

विशेषार्थ --- मुमुक्षु मनको संयमित करनेकेलिए अपने स्वाभाविक स्वरूपका विचार करता है --- मैं सत् हूँ, द्रव्य हूँ और द्रव्य होकर भी अचेतन हूँ । चेतन होनेसे ज्ञाता और द्रष्टा हूँ । ज्ञाता अर्थात् स्व और परको स्व और पररूपसे जाननेवाला हूँ और द्रष्टा । अर्थात् स्वरूप मात्रका अनुभवन करनेवाला हूँ । इस तरह सबको जानते- देखते हुए भी सबसे उदासीन हूँ । न मैं किसीसे राग करता हूँ और न द्वेष करता हूँ । न मैं किसीसे राग करता हूँ और न द्वेष करता हूँ । राग- द्वेष न तो मेरा स्वभाव है और न परवस्तुका स्वभाव है । यह तो मनका भ्रम है । यह मन ही बाह्य वस्तुओंमें इष्ट और अनिष्ट विकल्प पैदा करके आकुलता उत्पन्न करता है । कहा है ---यह जगत् न तो स्वयं इष्ट है और न अनिष्ट है । यदि यह इष्ट श अनिष्ट होता तो सभीकेलिए इष्ट या अनिष्ट होना चाहिए था, किन्तु जो वस्तु किसीसे इष्ट होती है वही दूसरेको इष्ट नहीं होती । और जो एकको अनिष्ट होती है वही दूसरेको इष्ट होती है । अतः जगत् न इष्ट है और न अनिष्ट है । किन्तु उपेक्षा करनेके योग्य हैइसी तरह न मैं रागी हूँ और न द्वेषी, राग- द्वेष मेरा स्वभाव नहीं है । किन्तु उपेक्षा मेरा स्वभाव है । परन्तु यह मन जगत् में इष्ट - अनिष्ट बुद्धि उत्पन्न करके उनके भोगके लिए व्याकुल हाता है और इन्द्रियोके द्वारा उन्हें भागनेकी प्रेरणा देकर इष्ट के भोगसे सुख और अनिष्ट के भोगसे दुःखकी बुद्धि उत्पन्न कराता है । किन्तु यह सुख- दुःख तो कल्पना मात्र है । कहा है --- संसारी प्राणियोंका यह इन्द्रियजन्य सुख- दुःख वासना मात्र ही है । क्योंकि यह न तो जीवका उपकारक होता है और न अपकारक । परमार्थसे उपेक्षणीय शरीर आदिमें तत्त्वको न जाननेके कारण यह उपकारक होनेसे मुझे इष्ट है और यह उपकारक न होनेसे मुझे अनिष्ट है । इस प्रकारके मिथ्याज्ञानसे उत्पन्न हुए संस्कारको वासना कहते हैं । अतः सुख- दुःख वासना ही है स्वाभाविक नहीं है । तभी तो जैसे आपत्तिकालमें रोग कह देते हैं वैसे ही ये सुखके उत्पादक माने जानेवाले भोगभी उद्वेग पैदा करते हैं ।

अतः जब मैं चित् आदि स्वरूप हूँ तब यह मन जिसे हृदय पंकज कहा जाता है वह या मुझे मैं सुखी- दुःख इत्यादि विपरीत ज्ञानरूप करानेमें समर्थ है । किन्तु पंकज कहते हैं जो कीचडसे पैदा होता है । यह मन भी अंगोपांग नामक कर्मरूपी कीचडसे बना है अतः गन्दगीसे पैदा होनेसे गन्दा है । इस दुष्ट की संगतिसे मैं अदुष्ट भी दुष्ट बन जाऊँ तो वह या

ध्रुवयमिष्टं न च द्विष्टं किन्तूपेक्ष्यामिदं जगत् ।

नाहमेष्ट । न च द्वेष्ट । किन्तु स्वयमुपेक्षिता ड॥--- तत्वानु. १५७ श्लो .।

ध्वासनामात्रमेवैतत् सुखं दुःख च देहिनाम् ।

तथा ह्युद्वेजयन्त्येते भोगा रोगा इवापदि ड॥ --- इष्टोप.,६ श्लो.।

अथान्तरात्मानः परमाभिजातत्वाभिमानमुद्बोधयन्नुपालमगर्भा शिक्षां प्रयच्छन्नाह ---

पुत्रो यद्यन्तरात्मन्नसि खलु परमब्रह्मणस्तत्किमक्षै ---

लौल्याद्यद्वल्लतान्ताद्रयमलिभिरसृग्- सृग्त्पाभिव्रणाद्वा ।

पायं पायं यथास्वं विषयमघमयैरेभिरुद्गीर्यमाणं

भुञ्जानो व्यात्तरागारतिमुखमिमकं हंस्यमा स्वं सवित्रा ॥४१॥

लतान्तात् --- पुष्यात् । ऋत्पाभिः--- जलौकाभिः। इमकं--- कृत्सितमिमं । सवित्रा--- परमब्रम्हणा सह । अन्तरात्मनो ह्यात्मघातो बहिरात्मपरिणतिः, परमात्मघातश्च शुद्धस्वरूपप्रच्यावनपूर्वकं रागद्वेषापादनम् ।

तथा चोक्त्वा ---

घचित्ते बध्दे बध्दो मुक्त्वेकमुक्को य गत्थि संदेहो ।

अप्पा विमलसहावो मइलिज्जइ मइलिए चित्ते" [] ॥ ४१॥

अथ इन्द्रियद्वारैरनाद्यविद्यावासनावशादसकृदुद्भिदानदुराशयस्य चित्तस्य विषयाभिष्वङ्गमुत्सारयन् परमपदप्रतिष्ठायोग्यताविधिमुपदिशति ---

आश्चर्य है । अर्थात् पापकर्मके निमित्तसे द्रव्य मनमें विलास करनेवाला सकल विकल्पोसे शून्य भी चेतन मनकेद्वारा नाना विकल्प जालोंमें फँस जाता है । इसलिए एक कविने मनकी दुष्टता बतलाते हुए कहा है -
-- घमनको हृदय रूपी सरोवरमें उत्पन्न हुआ उठता है । ऐसा यह दुष्ट है ॥४०॥

आगे अन्तरात्माके परम कुलीनताके अभिमानको जाग्रत् करते हुए ग्रन्थकार उलाहनेके साथ शिक्षा देते हैं ---

हे अन्तरात्मा--- मनके दोष और आत्मास्वरूपको विचारमें चतुर चेतन ! यदि तू परम ब्रम्ह परमात्माका पुत्र है तो जैसे भौरा अति आसक्तिसे फूलोका रस पीकर उसे उगलता है या जैसे जोंक घावसे चूत् पीकर उसे उगलती है, उसी तरह पापमय इन इन्द्रियोकेद्वारा अति आसक्तिसे पूर्वक यथायोग्य भोग भोगकर छोड़े हुए, पापमय इन नीच विषयोंको राग- द्वेष-पूर्वक भोगते हुए अपने पिताके साथ अपना घात मत करो ॥४१॥

विशेषार्थ --- जो उत्पन्न होकर अपने वंशको पवित्र बनाता है उसे पुत्र कहते हैं । यह पुत्र शब्दका निरुक्ति त्गम्य अर्थ है । अन्तरात्मा परमात्माका ही पुत्र है अर्थात् अन्तरात्मा और परमात्माकी जाति- कुल आदि एक ही है । अन्तरात्मा ही परमात्मा बनता है । अतः परमात्मा--- का वंशज होकर अन्तरात्मा इन्द्रियोके चक्रमे पडकर अपनेको भूल गया है । वह इस तरह अपना भी घात करता है और परमात्माका भी घात करता है । अन्तरात्माका आत्मघात है बहिरात्मा बन जाना । भोगासक्तिसे प्राणी शरीर और आत्मामें भेद नहीं करके शरीरको ही आत्मा मानता है । यही उसका घात है । और शुद्ध स्वरूपसे गिराकर रागी --- दोषी मानना परमात्माका घात है । कहा है ---- चित्तके बध्द होनेपर आत्मा बँधता है और मुक्त्वे होनेपर मुक्त्वे च हाता है इसमें सन्देह नहीं है । कि योकि आत्मा तो स्वभावसे निर्मल है, चित्तके मलिन होनेपर मलिन होता है । ऐसे निर्मल आत्मामें राग- द्वेषका आरोप करना ही उसका घात है ॥४१॥

अनादिकालसे लगी हुई अविद्याकी वासनाके वशसे चित्तमें इन्द्रियोंके द्वारा बारम्बार दुराशाएँ उत्पन्न हुआ करती है । अतः चित्तकी विषयोंकी प्रति आसक्ति तको दमर करते हुए परमपदमें प्रतिष्ठित होनेकी योग्यताकी विधि बतलाते हैं -----

तत्तद्गोचरभुक् त्वे निजमुखप्रेक्षीण्यमूनीन्द्रिया -

ण्यासेदु क्रियेसेऽभिमानघन भोश्चेतः कयाऽविद्यया^१

पूर्या विश्वचरी कृतिन् किमिमकैरङ्कैस्तवाशा ततो

विश्वैश्वर्यचणे सजत्सवितरि स्वे यौवराज्यं भज^१ ४२^१

निजमुखप्रेक्षीणि - मनः प्रणिधानाभावे चक्षुरादीनां स्वस्वविषयव्यापारानुपलम्भात्^१ आसेदुः -
आसीदति तच्छीलं भवत्युपस्थात्^१ इत्यर्थः^१ विश्वचरी - सकजगत्कवलनपरा^१ रङ्कैः - प्रतिनियतार्थोप -
भोगबद्धदुर्वारनिर्बन्धैः^१ विश्वैश्वर्यचणे - समस्तवस्तुविस्ताराधिपत्येन प्रतीते^१ यथाह -

तुभ्यं नमः परमचिन्मयविश्वकत्रे तुभ्यं नमः परमचिन्मयविश्वभोक् त्रै

तुभ्यं नमः परमचिन्मयविश्वभत्रं, तुभ्यं नमः परमकारणकारणाय^१ []

सजत् - निर्व्याजभ्र त्वानुरक्त त्तया तन्मयीभवत्^१ सवितरि - जनकै^१ यौवराज्यं - शुद्धस्वानुभूति-
लक्षणं कुमारपदम्^१ ४२^१

अथ

विषयाणामास्वादनक्षणरामणीयकानन्तरात्यन्तकटुकास्वादत्वप्रतिपादनपूर्वकमाविर्भावानन्तरोभ्दा-
विततृष्णापुनर्नवीभावं तिरोभावं भावयन् पृथग्जनानां तदर्थं स्वाभिमुखं विपदाकर्षणमनुशोचित -

सुधागर्व खर्वन्त्यभिमुखहृषीकप्रणयिनः,

क्षणं ये तेऽप्यूर्ध्वं विषमपवदन्त्यग्ङ्गविषयाः^१

त एवाविर्भूय प्रतिचितधनायाः खलु तिरो -

भवन्त्यन्धास्तेभ्योऽप्यहह किमु कर्षन्ति विपदः^१ ४३^१

हे अहंकारके पुंज मन ! मैं तुमसे पूछता हूँ कि ये इन्द्रियाँ अपने - अपने प्रतिनियत विषयोंका अनुभव करनेमें स्वाधीन हैं किसी अन्यका मुख नहीं ताकती^१ किस अविद्याने तुम्हें इनका अनुगामी बना दिया है ? हे गुण- दोषोंके विचार और स्मरण आदियें कुशल मन ! ये बेचारी इन्द्रियाँ तो सम्बद्ध वर्तमान प्रतिनियत अर्थको ही ग्रहण करनेमें समर्थ होनेसे अति दीन हैं और आपकी तृष्णा तो समस्त जगत्को अपना ग्रास बनाना चाहती है^१ क या उसकी पूर्ति इन इन्द्रियोंसे हो सकती है ? इसलिए समस्त वस्तुओंके अधिपति रू पसे प्रसिद्ध अपने पिता परम ब्रह्ममें निश्छल भक्ति तसे तन्मय होकर यौवराज्य पदको - शुद्ध

स्वात्मानुभूतिकी योग्यतारू प कुमार पदको - अर्थात् एकत्व - वितर्क प्रवीचार नामक शुक् त्ध्यानको ध्याओ ४२

विशेषार्थ - यदि मनका उपयोग उस ओर नहीं होता तो इन्द्रियाँ अपने विषयमें प्रवृत्त नहीं होतीं इसीलिए ऊ त उलाहना दिया गया है कि उधरसे हट कर मन परमात्माके गुणानुरागमें अनुत्त त होकर शुद्ध स्वात्मानुभूतिकी योग्यता प्राप्त करके स्वयं परमात्मस्वरू पमें रमण कर सके इससे उसकी विश्वको जानने- देखनेकी चिर अभिलाषा पूर्ण हो सकेगी ४२

ये विषय भोगते समय तो सुन्दर लगते हैं किन्तु बादको अत्यन्त कटु प्रतीत होते हैं तथा ये तृष्णाको बढ ते हैं, जो विषय भोगमें आता है उससे अरुचि होने लगती है और नयेके प्रति चाह बढ ती है फिर भी अज्ञानी जन विषयोंके चक्रमें फँसकर विपत्तियोंको बुलाते हैं यही सब बतलाते हुए ग्रन्थकार अपना खेद प्रकट करते हैं -

हे मन ! जो विषय ग्रहण करनेको उत्सुक इन्द्रियोंके साथ परिचयमें आनेपर अमृतसे भी मीठे लगते हैं वे भी परमोत्तम विषय उसकेबाद ही विषसे भी बुरे प्रतीत होते हैं तथा

खर्वन्ति - खण्डयन्ति १ प्रणयिनः यथास्वं परिचयभाजः १ विषयविषयिसन्निकर्षविशेषसूचिका श्रुतिर्यथा-

पुट्टं सुणोदि सदमपुट्टं पुण पस्सदे रू वं १

गंधं रसं च फासं बध्दं पुट्टं वियाणादि १

उध्दर्व - क्षणादनन्तरम् १ प्रतिचितधनायाः - प्रतिवर्द्धितगृह्ययः १ तिरोभवन्ति - उपभोगयोग्यता - परिणत्या विनश्यन्ति १ कर्षन्ति स्वाभिमुखमानन्ति १ ४३

अथ विषयाणामिहामुत्र चात्यन्तं चैतन्याभिभवनिबन्धनत्वमभिधत्ते -

किमपीदं विषयमयं विषमतिविषमं पुमानयं येन १

प्रसभमभिभूयमानो भवे भवे नैव चेतयते १ ४४

वे ही सुन्दर प्रतीत होनेवाले विषय अपनी झलक दिखाकर छिप जाते हैं और विषयतृष्णाको बढ ाजाते हैं खेद है कि उन विषयोंके रहस्यको न जाननेवाले विषयान्ध पुरुष उन विषयोंसे हीक षों विपत्तियोंको अपनी ओर बुलाते हैं ४३

विशेषार्थ - पूज्यपाद स्वामीने कहा है - भोग - उपभोग प्रारम्भमें शरीर, मन और इन्द्रियोंको क ळा देते हैं अन्न आदि भोग्य द्रव्य उत्पन्न करनेमें किसानोंको कितना कष्ट उठाना पडता है इसे सब जानते हैं तो भोगनेपर तो सुख देते होंगे, सो भी नहीं,क षोंकि इन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध होते ही तृष्णा पैदा होती है कहा है - जैसे -जैसे संकल्पित भोग प्राप्त होते हैं वैसे -वैसे मनुष्योंकी तृष्णाविश्वमें फैलती है

यदि ऐसा है तो भोगोंकी खूब भोगना चाहिए जिससे तृष्णा शान्त हो किन्तु भोगनेके बाद विषयोंको छोडना शक्य नहीं होता कितना भी भोगनेपर मनको शान्ति नहीं मिलती आचार्य वीरनन्दिने कहा है - तृण और काष्ठके ढेरसे अग्नि और सैकड़ों नदियोंसे समुद्र भले ही तृप्त हो जाये किन्तु कामसुखसे पुरुषकी तृप्ति नहीं होती कर्मकी यह बलवत्ता अचिन्त्य है ऐसे कामभोगको कौन बुद्धिमान सेवन करता है ? शायद कहा जाये कि तत्त्वके ज्ञाता भी भोग भोगते सुने जाते हैं तब यह कहना कि कौन बुद्धिमान विषयोंको भोगता है कैसे मान्य हो सकता है उक्त कथनका तात्पर्य यह है कि चारित्रमोहके उदयसे यद्यपि तत्त्वज्ञानी भी भोगोंका सेवन करते हैं किन्तु हेय मानते हुए ही सेवन करते हैं जब मोहका उदय मन्द हो जाता है तो ज्ञान भावना और वैराग्यसे इन्द्रियोंको वशमें करके विद्वान् त हो जाते हैं ४३

आगे कहते हैं कि ये विषय इस लोक और परलोकमें चैतन्यशक्ति के अभिभवमें कारण हैं - यह विषय रू पी विष कुछ अलौकिक ही रू पसे अत्यन्त कष्ट दायक है वरुणेंकि उससे

१. आरम्भे तापकान् प्राप्तावतृप्तिप्रतिपादकान्

अन्ते सुदुस्त्यजान् कामान् कामं कः सेवते सुधीः ३ - इष्टोप., १७ श्लो.

३. अपि संकल्पिताः कामाः संभवन्ति यथा यथा

तथा तथा मनुष्याणां तृष्णा विश्वं प्रसर्पति ३ []

४. दहनस्तृणकाष्ठसंचयैरपि तृप्येदुदधिर्नदीशतैः

नतु कामसुखैः पुमानहो बलवत्ता खलु कापि कर्मणः - चन्द्रप्रभचरित १ ७२

स्पष्ट ४४

अर्थवाममिन्द्रियपरिहारलक्षणमपहृतसंयममुतमप्रकारेण भावनाविषयीकृत्येदानीं तमेव मध्यमजघन्यप्रकाराभ्या भावयितुमुपक्रमते ---

साम्यायाक्षजयं प्रतिश्रुतवतो मेऽमी तदर्थाः सुखं

लिप्सोर्दुःखविभीलुकस्य सुचिराभ्यस्ता रतिद्वेद्वायोः

व्युत्थानाय खलुस्युरित्याखिलाशस्तानुत्सृजेद् दूरत ---

स्तद्विच्छेदननिर्दयानथ भजेत्साधून्परार्थोद्यतान् ४५

प्रतिश्रुतवतः--- अङ्गीकृतवतः व्युत्थानाय --- झगित्युद्बोधय ४५

अथ स्वयं विषयदूरीकरणं लक्षणं मध्यममपहृतसंयमभेदं प्रत्युद्यमयति ---

मोहाज्जगत्युपेक्षेऽपि छेतुमिष्टे तराशयम्

तथाभ्यस्तार्थमुज्झित्वा तदन्यार्थं पदं व्रजेत् ४६

इष्टे तराशयं ---- इष्टं निष्टं वासनाम् तथाभ्यस्तार्थं --- इष्टं निष्टं तथा पुनः पुनः सेवितविषयम् पदं --- वसत्यादिकमसंयमस्थानं वा ४६

बलपूर्वक अभिभूतं हुआ अर्थात् वैभाविक भावको प्राप्त हुआ यह स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे स्पष्ट आत्मा जन्म-जन्तान्तरमें भी ज्ञान चेतनाको प्राप्त नहीं करता ४४

विशेषार्थ --- लैकिक विषसे अभिभूत व्यक्ति व तो उसी भवमें होशमें नहीं आता किन्तु विषय रूपी विषसे अभिभूत चेतन अनन्त भवोंमें भी नहीं चेतता यही इसकी अलैकिकता है अतः ज्ञानचेतनारूपी अमृतको पीनेके इच्छुक जनोंको विषयसेवनसे विरत ही होना चाहिए ४४

इस प्रकार इन्द्रिय परिहाररूप अपहृत संयमको उत्तम रीतिसे भावनाका विषय बनाकर अब उसीको मध्यम और जघन्य प्रकारोंसे भावनाका विषय बनानेका उपक्रम करते हैं ---

मैं दुःखोंसे विशेष रूपसे भयभीत हूँ और सुख चाहता हूँ इसीलिए मैंने साम्यभावरूप उपेक्षा संयमकी सिद्धिके लिए इन्द्रियोको जीतनेकी प्रतिज्ञा की है ये इन्द्रियोके विषय अनादिकालसे मेरे सुपरिचित हैं मैंने इन्हें बहुत भोगा है ये तत्काल राग-द्वेषको उत्पन्न करते हैं इसलिए इन समस्त विषयोंको दूरसे ही छोड़ देना चाहिए यह मध्यम संयम भावना है अथवा जो साधु मध्यम संयम भावनामें असमर्थ है, उसे परोपकारके लिए तत्पर संयम भावना है ४५

विशेषार्थ ---- मध्यम प्रकारकी विषय निवृत्तिमें विषयोंको बाह्य रूपसे अपनेसे दूर कर दिया जाता है, उत्तम प्रकारकी तरह अन्तर्वृत्तिसे विषयोंका त्याग नहीं किया जाता और जघन्यमें आचार्यादिके द्वारा विषयोंको दूर किया जाता है ४५

आगे स्वयं विषयको दूर करने रूप मध्यम अपहृत संयमका पालन करनेके लिए साधुओंको प्रेरित करते हैं ---

यह समस्त चराचर जगत् वास्तवमें उपेक्षणीय ही है फिर भी अज्ञानसे इसमें इष्ट औरी अनिष्ट की वासना होती है इस वासनाको नष्ट करनेके लिए इष्ट और अनिष्ट रूपसे

अथ मनोविक्षेपकारणकरणगोचरापसरणपरं गुर्वादिकमभिनन्दति ---

चित्तविक्षेपिणोक्षार्थान् विक्षिपन् द्रव्यभावतः

विश्वारट् सोऽयमित्यायैर्बहुमन्येत शिष्ट रट् ४७

विश्वारट् --- जगन्नार्थः घविश्वस्य वसुरट् षः इति दीर्घः ४७

अथ उत्तममध्यमाधमभेदात्त्रिप्रकारं प्राणिपरिहाररूपमपहृतसंयमं प्रपञ्चयन्नाह ---

बाह्यं साधनमाश्रितो व्यसुवसत्यन्नादिमात्रं स्वसाद् ---

भूतज्ञानमुखस्तदभ्युपसृतान् जन्तून्त्यतिः पालयन्

स्वं व्यावर्तततः सतां नमसितः स्यात् तानुपायेन तु

स्वान्मार्जन् मृदुना प्रियः प्रतिलिखन्नप्यादृतस्तादृशा ४८

व्यसु--- प्रासुकम् १ स्वसाद्भूतज्ञानमुखः--- स्वाधीनज्ञानचरणकरणः तदभ्युपसृतान् ---
प्रासुकवसत्यादावुपनिपतितान् १ व्यावर्त्य--- तद्वस्तुत्यागेन वियोगोपघातादिचिन्तापरिहारेण वा प्रच्याव्य १
ततः--- तेभ्यो जन्तुभ्यः सोऽयमुत्तमः १ स्वात् --- आत्मदेहर्तः मार्जन् --- शोधयन् प्रियः--- इष्टः १
सतामित्येव १४८

अथापहृतसंयमस्फारीकरणाय शुद्धि कमुंपदिशति---

भिक्षेर्याशयनासनाविनयव्युत्सर्गवाङ्मनतनुषु १

तन्वन्नष्ट सु शुद्धिं यतिरपहृतसंयमं प्रथयेत् १४९

बारम्बार सेवन किये गये विषयोंको त्यागकर उनसे भिन्न अनभ्यस्त अर्थावाले स्थानको प्राप्त करना चाहिए १४६

मनको विक्षिप्त करनेवाले इन्द्रिय विषयोंको दूर करनेमें तत्पर गुरु आदिका अभिनन्दन करते हैं -

--

राग- द्वेष आदिको उत्पन्न करके मनको व्याकुल करनेवाले इन्द्रिय विषयोंको द्रव्य और भावनारूपसे त्याग करनेवाले शिष्ट ऋत् --- तत्त्वार्थके श्रवण और ग्रहणसे गुणोंको प्राप्त शिष्ट पुरुषोंके राजा, उत्तम पुरुषोंकेद्वारा घ्यह विश्वमें शोभायमान विश्वारट् हैड इस प्रकारसे बहुत माने जाते हैं १४७

विशेषार्थ--- बाह्य विषयोंका त्याग द्रव्य त्याग है और अन्वर्ती विषय सम्बन्धी विकल्पोंका त्याग भाव त्याग है १ दोनों प्रकारसे त्याग करनेवाले विश्वपूज्य होते हैं १४७

स्वाधीन ज्ञान चारित्रिका पालक मुनि उसकेबाह्य साधन मात्र प्रासुक वसति, प्रासुक अन्न आदिको ही स्वीकार करता है १ उनमें यदि कोई जीव- जन्तु आ जाता है तो वहाँसे स्वयं हट कर जीवोंकी रक्षा करता है १ वह यति साधुओंकेद्वारा पूजित होता है १ यह उत्कृष्ट प्राणिसंयम है १ और उन जन्तुओंको कोमल पिच्छिकासे अपने शरीर आदिसे दूर करनेवाला साधु सज्जनोंका प्रिय होता है १ यह मध्यम प्राणिसंयम है १ तथा मृदु पीछीके अभावमें उसीके समान कोमल वस्त्र आदिसे जीवोंकी प्रतिलेखना करनेवाला साधु सज्जनोंको आदरणीय होता है १ यह जघन्य प्राणिसंयम है १४८

अपहृत संयमको षड् नेकेलिए आठ शुद्धियोंका उपदेश करते हैं ---

संयमकेपालनकेलिए तत्पर साधुको भिक्षा, ईर्या, शयन, आसन, विनय, व्युत्सग,

भिक्षेत्यादि १ भिक्षाशुद्धिः प्रामुक् ऋ, तत्परस्य मनुरशनं गोचाराक्ष- म्रक्षणोदराग्निप्रशमन- भ्रमराहार- श्वभ्रपूरणनामभेदात् षड् चधा स्यात् १ तत् गोर्बलीवर्दस्येव गोचारः प्रयोक् त्ततसौनदर्यनिरीक्षण- विमुखतया यथालाभमनपेक्षितस्वादोचितसंयोजनाविशेषं चाभ्यवरहणात् १ तथा अक्षस्य शक्तीचकधिष्ट त- काष्ठस्य म्रक्षणं स्नेहेन लेपनमक्षम्रक्षणम् १ तदिवाशनमप्यक्षम्रक्षणमिति ऋत् १ येन केनापि स्नेहेनेव निरवद्या- हारेणायुषोऽक्षस्येवाभ्यङ्गं प्रतिविधाय गुणरत्नभारपूरिततनुशक्त याः

समाधीष्ट देशपापणतिनमित्तत्वात् तथा भाण्डागारवदुदरे प्रज्वलितोऽग्निः प्रशम्यते येन शुचिनाऽशूचिना वा जेलेनेव सरसेनारसेन वाऽशनेन तदुदराग्नि- प्रशमनमिति प्रसिद्धम् तथा भ्रमरस्येवाहारो भ्रमराहारो दातृजनपुष्पपीडानवतारात् परिभाव्यते तथा श्वभ्रस्य गर्तस्य येन केनचित् कचारेणेव स्वादुनेतरणेवाहारेणोदरगर्तस्य पूरणात् श्वभ्रपूरणमित्याख्यायते ईर्या-व्युत्सर्ग- वम्र शुद्धयः समितिषु व्याख्याताः शयनासनविनयशुद्धी तु तपःसु वक्ष्येते मनःशुद्धिस्तु भावशुद्धिः कर्मक्षयोपशमजनिता मोक्षमार्गरुच्याहितप्रसादा रागाद्युपप्लवरहिता च स्यात् सैव च सर्वशुद्धीनामुपरि स्फुरति

वचन, मन, काय इन आठोकेविषयमे शुद्धिको विस्तारकेहुए अपहत संयमको बढाना चाहिए ४९

विशेषार्थ --- भिक्षाशुद्धी, ईर्याशुद्धि, शयनासनशुद्धि, विनयशुद्धि व्युत्सर्गशुद्धि, वचनशुद्धि, मनशुद्धि और कायशुद्धि ये आठ शुद्धियाँ हैं इनमें- से भिक्षाशुद्धिका कथन पिण्ड- शुद्धिमें किया गया है भिक्षाशुद्धिमें तत्पर मुनि जो भोजन करता है उसके पाँच नाम हैं --- गोचार, अक्षम्रक्षण, उदारग्निप्रशमन, भ्रमराहार और श्वभ्रपूरण गो अर्थात् बैलके समान जो चार अर्थात् भोजन उसे गोचार कहते हैं व शोकि मुनि भोजन देनेवाले दाताके सौन्दर्यपर दृष्टि न डालते हुए, जो कुछ वह देता है, उसे स्वाद उचित सम्मिश्रण आदिकी अपेक्षा न करते हुए खाता है गाडीके पहियोंका आधार जो काष्ठा होता है उसे अक्ष कहते हैं उसे तेलसे लिप्त करनेको अक्षभ्रमण कहते हैं उसके समान भोजनेको अक्षभ्रक्षण कहते हैं व शोकि जैसे व्यापारी जिस किसी भी तेलसे गाडीको औघकर रत्नभाण्डसे भरी हुई गाडीको इष्ट देशमें ले जाता है उसी प्रकार मुनि निर्दोष आहारके द्वारा आयुको सिंचित करके गुणोसे भरी हुई शरीररूपी गाडीको समाधिकी ओर ले जाता है तथा, जैसे मालघरमें आग लगनेपर पवित्र या अपवित्र जलसे उस आगको बुझाते है, उसी प्रकार पेट में भूख लगनेपर मुनि सरस या विरस आहारसे उसे शान्त करता है इसीको उदराग्नि प्रशमन कहते हैं तथा भ्रमरके समान आहारको भ्रमराहार कहते हैं जैसे भौराफूलोको पीडा दिये बिना मधुपान करता है वैसे ही साधु दाताजनोंको पीडा दिये बिना आहार ग्रहण करता है। तथा जैसे गड्ढेको जिस किसी भी कचरेसे भरा जाता है उसी तरह पेट केगड्ढेको स्वादिष्ट या अस्वादिष्ट आहारसे भरनेको श्वभ्रपूरण कहते हैं ईर्याशुद्धि, व्युत्सर्गशुद्धि और वचनशुद्धिका कथन समितियोंके कथनमें कर आये हैं शयनासनशुद्धि और विनयशुद्धिका कथन तपमें करेंगे मनशुद्धि भावशुद्धिको कहते हैं कर्मके क्षयोपशमसे वह उत्पन्न होती है मोक्षमार्गमें रुचि होनेसे निर्मल होती है रागादिके उपद्रवसे रहित होती है

यह मनशुद्धि या भावशुद्धि सब शुद्धियोंमें प्रधान है व शोकि आचारके विकासका मूल भावशुद्धि ही है कहा है --- सब शुद्धियोंमें भावशुद्धि ही प्रशंसनीय है व शोकि स्त्री

व तृजनसौ --- भ.कु.च.

घसर्वासामेव शुद्धीना भावशुद्धिः प्रशस्यते

अन्यथाऽऽलिङ्गयतेपत्यमन्यथाऽऽलिङ्गयते पतिः" []

तदेकमूलत्वादाचारप्रकाशायो (- शौनायाः) कायशुद्धिस्तु निरावरणाभरणा निरस्तसंस्कारा यथा जाता मलधारिणो निराकृताङ्गविकारा सर्वत्रे प्रयतवृत्तिः प्रशमं मूर्तमिव प्रदर्शयन्तीव स्यात् तस्यां च सत्यां न स्वतोऽन्यस्य नाप्यन्यतः स्वस्य भयमुभदवति स एष शुद्धकम्पः समित्यादिभ्योऽपीद्धृत्य सूत्रे स्वाख्यायते संयमस्यातिदुष्करतया परिपालने सुतरा बालाश्च तानगारवर्गस्य प्रयत्नप्रतिसंघानार्थमिति ४९

अथ उपेक्षासंयमपरिणतं लक्षयति ---

तेऽमी मत्सुहृदः पुराणपुरुषा मत्कर्मकल्लृप्तोदयैः

स्वैः स्वैः कर्मभिरीरितास्तनुमिमां मन्नेतृकां मध्दिया

कचम्यन्त इमं न मामिति तंदाबाधे त्रिगुप्तः परा ---

किं तद्वृत्तं योत्सृष्टं अपुर्बुधः समतया तिष्ठत्युपेक्षायमी ५०

पुत्रका भी आलिंगन करती है और पतिका भी किन्तु दोनोके भावोंमें बडा अन्तर है शरीरपर न कोई वस्त्र हो न आभूषण, न उसका संस्कार--- स्नान, तेल मर्दन आदि किया गया हो, जन्मके समय जैसी स्थिती होती है वही नग्न रूप हो, मल लगा हो, किसी अंगमे कोई विकार न हो, सर्वत्र सावधानतापूर्वक प्रवृत्ति हो, जिसे देखनेसे ऐसा प्रतित हो, मानो मूर्तिमान प्रशमगुण है इसे ही कायशुद्धि कहते हैं इसके होनेपर न तो अपनेको दूसरोंसे भय होता है और न दूसरोंको अपनेसे भय होता है वं योकि संयमका पातन अत्यन्त दुष्कर हे अतः उसके पालनमें जो मुनि बालक है या वृद्ध हैं उनको प्रयत्नशील बनानेके लिए इन आठ शुद्धियोंका समिति आदिसे उद्धार करके आगममें विस्तारसे कथन किया गया है ४९

उपेक्षा संयमका स्वरूप कहते हैं ----

शरीर और आत्माके भेदको जाननेवाला उपेक्षा संयमी उपद्रव करनेवाले व्याघ्र आदि जीवोंके द्वारा कष्ट दिये जानेपर भी उनको कोई कष्ट नहीं देता, और मन- वचन-कायके व्यापारका अच्छी रीतिसे निग्रह करके शरीरसे ममत्व हट कर समभावसे स्थिर रहता हुआ विचारता है कि ये व्याघ्र आदि जीव भी परमागममें प्रसिद्ध परमात्मा है, मेरे मित्र हैं, मेरे उपघात नामकर्मका उदय है और इनके परघात नामकर्मका उदय है उसीसे प्रेरित होकर ये इस शरीरकसे ही मुझे मानकर खा रहें हैं वं योकि मैं इस शरीरका नूता हूँ, जैसे कहार काँवरका होता है किन्तु स्वयं मुझे नहीं खा सकतें ५०

विशेषार्थ --- उपेक्षा संयमका मतलब ही इष्ट और अनिष्ट विषयोंमें राग- द्वेष न करके समता भाव रखना है अतः उपेक्षा संयमका अर्थ ही साम्यभाव है यह साम्यभाव इतना उन्नत होता है कि व्याघ्रदिके द्वारा खाये जानेपर भी चलित नहीं होता शेर भँभोड- भँभोड- कर खा रहा है और उपेक्षा संयमी शेरकी पर्यायमें वर्तमान जीवकी दशा और स्वरूपका विचार करता है परमागममें कहा है कि भी सभी जीव द्रव्यरूपसे परमात्मा है कहा है --- इस सिद्धि पर्यायमें जो वैभव शोभित होता है बद्धदशामें भी यह सब वैभव पूरी तरहसे

भ.कु.च.

प्रयत्न भ.कु.च.

सूत्रेऽन्वाख्या --- भ.कु.च.

घसिध्दत्वे यदिह विभाति वैभवं वो बध्दत्वेऽप्यखिलतया किलेदमासीत्

बध्दत्वे न खलु तथा विभातामित्थं बीजत्वे तरुगरिमात्र किं विभाति" []

अमी - व्याघ्रादिरु पा :^६ मत्सुहृदः - मया सदृशाः अथवा अनादिसंसारे पित्रादिपर्यायेण ममोप -
कारकाः^६ यदाहुः -

सर्वे तातादिसंबन्धा नासन् यस्याग्ङिभिः^६

सर्वे रनेकधा सार्धं नासावग्ङिनोऽग्ङिभिः^६ []

पुराणपुरुषाः^६ परास्मि तष्ट । परेषामुपद्रावकजीवानामनुपघातेन^६ उत्सृष्ट वपुः - ममत्वव्यावर्तनेन
परित्यक्त शरीरः^६ बुधः - देशकालविधानज्ञः^६ ५०^६

अथ उपेक्षासंयमसिध्दयग्ङे तपोरु पे धर्मेऽनुष्ठातृनुत्साहयन्नाह -

उपेक्षासंयमं मोक्षलक्ष्मीश्लेषविचक्षणम्^६

लभन्ते यमिनो येन तच्चरन्तु परं तपः^६ ५१^६

परं - उत्कृष्टं स्वाध्यायध्यानरु पमित्यर्थः^६ ५१^६

था किन्तु बध्ददशामें वह वैसा शोभित नहीं था^६ व ऋ बीज पर्यायमें वृक्षकी गरिमा शोभित होती है ?
और भी कहा है -सच्चे सुध्दा हु सुध्दणयाशुध्दनयसे सभी जीव शुध्द - बुध्द हैं^६ अतः ये सिंह आदि भी मेरे
मित्र हैं^६ जो स्वरु प मेरी आत्माका है वही इनकी आत्माका है^६ पर्याय दृष्टि से देखनेपर भी ये मेरे पूर्व
बन्धु हो सकते हैं^६ क्योंकि अनादि संसारमें कौन जीव किसका पिता - पुत्र आदि नहीं होता^६ कहा है -
जिस प्राणीके सब प्राणियोंके साथ सब पिता- पुत्र आदि अनेक सम्बन्ध नहीं रहे ऐसा कोई प्राणी ही नहीं हैं

दूसरे, खानेवाला शेर मुझे तो खा ही नहीं सकता^६ मैं तो टाँकीसे उकेरे हुएके समान ज्ञायक
भावरु प स्वभाववाला हूँ^६ व्यवहारमें यदि यह खाता है तो खाये^६ वास्तवमें जो स्वात्म संवेदनमें लीन
होता है उसे बाह्य दुःखका बोध नहीं होता^६ कहा है - जो योगी शरीर आदिसे हट कर आत्माको आत्मामें
ही स्थिर करता है और व्यवहार - प्रवृत्ति - निवृत्तिसे दूर रहता है, उसे स्वात्माके ध्यानसे वचनातीत
आनन्द होता है^६ यह आनन्द निरन्तर प्रचुर कर्मरु पी ईधनको जलाता है^६ तथा उस आनन्दमग्न योगीको
परीषह उपसर्ग आदि बाह्य दुःखोंका बोध नहीं होता^६ इसीसे उसे कोई खेद नहीं होता^६ और भी कहा है
- शरीर और आत्माके भेदज्ञानसे उत्पन्न हुए आनन्दत योगी तपकेद्वारा उदीर्ण किये गये घोर दुष्कर्मोंको
भोगता हुआ भी खेदखिन्न नहीं होता^६ ५०^६

इस तरह संयमका प्रकरण समाप्त होता है^६

आगे उपेक्षा संयमकी सिद्धिके सहायक तपधर्ममें तपस्वियोंको उत्साहित करते हैं -

जिसके द्वारा साधुजन अनन्त ज्ञानादि चतुष्टय रूपा मोक्षलक्ष्मीका आलिंगन करानेमें चतुर दूतके समान उपेक्षा प्राप्त करते हैं उस उत्कृष्ट तपको करना चाहिए ५१

१. आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारवहिःस्थितेः

जायते परमानन्दः कश्चिद्योगेन योगिनः

आनन्दो निर्दहत्युद्यं कर्मन्धनमनारतम्

न चासौ खिद्यते योगी बहिर्दुःखेष्वचेतनः -- इष्टोपदे., ४७-४८ श्लोक

२. आत्मदेहान्तरज्ञान - जनिताह्लादनिर्वृतः

तपसा दुष्कृतं घोरं भुञ्जानोऽपि न खिद्यते -- समाधितं. ३४ श्लो.

अथ त्यागात्मकं धर्ममवगमयति -

शत्रु त्या दोषैकमूलत्वान्निवृत्तिरुपधेः सदा

त्यागो ज्ञानादिदानं वा सेव्यः सर्वगुणाग्रणी ५२

शत्रु तेत्यादि अयमत्राभिप्रायः परिग्रहनिवृत्तिरनियतकाला यथास्वशक्ति तः त्यागः कायोत्सर्गः पुनर्नियतकालः सर्वोत्सर्गरूपः कर्मोदयवशादसन्निहितविषयगर्धोत्पत्तिनिषेधः शौचम् त्यागः पुनः सन्निहिता- पाय इति शौचादप्यस्य भेदः सर्वगुणाग्रणी अतं च -

अनेकाधेयदुष्पूर आशागर्तश्चिरादहो

चित्रं यत् क्षणमात्रेण त्यागेनैकेन पूर्यते

कः पूरयति दुष्परमाशागर्त दिने दिने

यत्रास्तमस्तमाधेयमाधारत्वाय कल्पते [] ५२

अथ ज्ञानदानमहिमानमखिलदानमाहात्म्यन्यग्भावेन पुरस्कुर्वन्नाह -

विशेषार्थ - उपेक्षा संयमके बिना मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती और उपेक्षा संयमकी साधना उत्कृष्ट तपकेद्वारा ही सम्भव है वह उत्कृष्ट तप है स्वाध्याय और ध्यान कहा है -स्वाध्यायसे ध्यानका अभ्यास करना चाहिए और ध्यानसे स्वाध्यायको चरितार्थ करना चाहिए तथा ध्यान और स्वाध्यायकी सम्प्राप्तिसे परमात्मा प्रकाशित होता है अर्थात् परमात्मपदकी प्राप्तिके लिए स्वाध्याय और बहुत ध्यान उपयोगी है ५१

आगे त्यागधर्मका कथन करते हैं -

परिग्रह राग आदि दोषोंका प्रधान कारण है^६ इसलिए शक्ति तके अनुसार उससे सदाके लिए जो निवृत्तिरूप परिणाम है उसे त्याग कहते हैं^६ अथवा ज्ञान आदिके दानको त्याग कहते हैं^६ वह सब गुणोंमें प्रधान है^६ साधुओंको उसका पाल करना चाहिए^६ ५२^६

विशेषार्थ - त्याग और शौचमें यह अन्तर है कि शक्ति तके अनुसार अनियत काल तक परिग्रहकी निवृत्तिके त्याग कहते हैं^६ नियत काल तक सब कुछ त्यागनेको कायोत्सर्ग कहते हैं^६ और कर्मके उदयके वश जो अपने पासमें नहीं है उसमें होनेवाली लालसाको रोकना शौच है^६ अर्थात् जो हमें प्राप्त नहीं है उस विषयकी तृष्णाको रोकना शौच है और जो हमारे पास है उसे छोड़ना त्याग है^६ इस तरह शौचसे त्याग भिन्न है^६ तृष्णाकी पूर्ति होना असम्भव है^६ कहा है -आशारू पी गर्त दुष्पूर है उसे कोई भर नहीं सकता^६ प्रतिदिन उसमें जो कुछ भरा जाता है वह आधेय न होकर आधार हो जाता है^६ ५३^६

किन्तु उसे भरनेका एक ही उपाय है और वह है त्याग^६ कहा है -खेद है कि आशारू पी गर्त चिरकालसे अनेक प्रकारके आधेयोंसे भी नहीं भरता^६ किन्तु आश्चर्य है कि एक त्यागसे वह क्षण मात्रमें भर जाता है^६ ५२^६

आगे सब दानोंके माहात्म्यसे ज्ञानदानकी महिमाकी विशिष्टता बतलाते हैं -

१. यत्र समस्तमा - भ. कु. च.^६ चारित्रसारे उद्धृताविमौ श्लोकौ^६

२. स्वाध्यायाद् ध्यानमध्यास्तां ध्यानात् स्वाध्यायमामनेत्^६

ध्यानस्वाध्यायसंपत्त्या परमात्मा प्रकाशते^६ - तत्त्वानु., ८१ श्लो.^६

दत्ताच्छर्म किलैति भिक्षुरभयादा तद्भवाभ्देषजा-

दा रोगान्तरसंभवादशनतत्रचोत्त्रर्षतस्तद्दिनम्^६

ज्ञानात्त्वाशुभवन्मुदो भवमुदां तृप्तोऽमृते मोदते

तद्दातृस्तिरयन् गहानिव रविर्भातीतरान् ज्ञानदः^६ ५३^६

आतद्भवात् - वर्तमानजन्म यावत्^६ आशुभवन्मुदः - सद्यः संजायमाना प्रीतिर्यस्मात्^६ भवमुदां - संसारसुखानाम्^६ अमृते - मोक्षे^६ तिरयन् - तिरस्कुर्वन्^६ ५३^६

अथाकिञ्चन्यलक्षणधर्मानुष्ठायिनः परमाभ्दतफलप्रतिलम्भमभिधत्ते -

अकिञ्चनोऽममित्यस्मिन् पथ्यक्षुण्णचरे चरन्^६

तददृष्ट चरं ज्योतिः पश्यत्यानन्दनिर्भरम्^६ ५४^६

अकिंचनः नास्ति किंचनोपात्तमपि शरीरादिकं मम इत्यर्थः १ उपात्तेष्वपि हि शरीरादिषु संस्कारादित्यागात् ममेदमित्यभिसन्धिनिवृत्तिराकिंचन्यमिष्यते १ अक्षुण्णचरे - पूर्व कदाचिदप्यनवगाहिते १ अदृष्ट चरं - पूर्व कदाचिदप्यनुपलब्धम् १ ५४ १

आगममें ऐसा सुना जाता है कि दिये गये अभयदानसे भिक्षु अधिकसे अधिक उसी भवमें सुखी रहता है १ औषधदानसे अधिक से अधिक जबतक अन्य रोग उत्पन्न नहीं होता तबतक सुखी रहता है १ भोजनदानसे अधिक से अधिक उसी दिन सुखी रहता है १ किन्तु तत्काल आनन्दको देनेवाले ज्ञानदानसे सांसारिक सुखोंसे तृप्त होकर मोक्षमें सदा आनन्द करता है १ अतः जैसे सूर्य, चन्द्र आदि ग्रहोंको तिरस्कृत करता हुआ शोभता है उसी तरह ज्ञानदाता अभयदान आदि करनेवालोंकी तिरस्कृत करता हुआ सुशोभित होता है १ ५३ १

विशेषार्थ इ चारों प्रकारके दानोंमें ज्ञानदान सर्वश्रेष्ठ है १ व योंकि यदि कोई किसी भिक्षुको अभयदान देता है कि तुम किसीसे भी मत डरना, तो इससे वह भिक्षु केवल उसी भवमें निर्भय होकर रह सकता है १ मरने पर तो अभयदान भी समाप्त हो जाता है १ यदि कोई किसी रोगी भिक्षुको औषधि देकर नीरोग करता है तो उससे भी भिक्षु तभी तक सुखी रहता है जब तक उसे दूसरा रोग नहीं होता १ जैसे किसी भिक्षुको ज्वर आता है १ ज्वरनाशक औषधके देनेसे ज्वर चला गया १ तो वह भिक्षु तभी तक सुखी रहता है जब तक उसे अन्य रोग उत्पन्न नहीं होता १ इसी प्रकार भिक्षुको भोजन देनेसे वह भिक्षु अधिक से अधिक उसी दिन सुखी रहता है १ दूसरा दिन होते ही भूख सताने लगती है १ किन्तु ज्ञानदानसे तत्काल चित्तमें शान्ति आती है और वह संसारके सुखोंसे उद्विग्न होकर शाश्वत आत्मिक सुखको प्राप्त करता है १ ५३ १

आगे कहते हैं कि आकिंचन्य धर्मकेपालकको अद्भुत फलकी प्राप्ति होती है -

में अकिंचन हूँइस पहले कभी भी न जाने हुए मार्गमें भावक - भावरू पसे प्रवृत्ति करनेवाला साधु आनन्दसे भरपूर और पहले कभी भी प्राप्त न हुई, टाँकीसे उकेरी हुईके समान ज्ञायकभाव - स्वभाव आत्मज्योतिका अनुभवन करता है १ ५४ १

विशेषार्थ - मेरा कुछ भी नहीं है इस प्रकारके भावको आकिंचन्य कहते हैं १ शरीर वगैरह यद्यपि वर्तमान रहते हैं फिर भी उसमें ममत्वको त्यागकरयह मेरा हैइस प्रकारके अभिप्रायसे निवृत्त होना आकिंचन्य है १ इस आकिंचन्य भावको भानेसे ही ज्ञायकभाव - स्वभाव आत्माका अनुभव होता है १ ५४ १

अथ ब्रह्मचर्यस्वरू पं धर्म निरू पयन्नाह -

चरणं ब्रह्मणि गुरावस्वातन्त्र्येण यन्मुदा १

चरणं ब्रह्मणि परे तत्स्वातन्त्र्येण वर्णिनः १ ५५ १

वर्णिनः - ब्रह्मचारिणः १ ५५ १

अथ क्षमादिधर्माणां गुप्त्यादिभ्योऽपोधदारव्यवहारपुरस्सरमुत्तमविशेषणं व्याचष्टे -

गुप्त्यादिपालनार्थं तत एवापोद्धृतैः प्रतिक्रमवत्

दृष्ट फलनिर्व्यपेक्षैः क्षान्त्यादिभिरुत्तमैर्यतिर्जयति ५६

अपोद्धृतैः - पृथक् कृत्योक्तैः दृष्ट फलनिर्व्यपेक्षैः - लाभादिनिरपेक्षत्वादुत्तमैरित्यर्थः ५६

अथ मुमुक्षूणामनुप्रेक्षाचिन्तनाधीनचेतसां बहुप्रत्यूहेऽपि मोक्षमार्गं कश्चित् प्रत्यवायो न स्यादित्युपदेश- पुरस्सरं नित्यं तच्चिन्तने तानुद्योगयन्नाह -

अब ब्रह्मचर्य धर्मका कथन करते हैं -

मैथुनसे निवृत्त ब्रह्मचारी जो स्वतन्त्रतापूर्वक परब्रह्ममें प्रवृत्ति करता है या गुरुके अधीन होकर आत्मामें प्रवृत्ति करता है उसे ब्रह्मचर्य कहते हैं ५५

विशेषार्थ - ब्रह्म शब्दका अर्थ है आत्मा या ज्ञान उसमें प्रवृत्तिका नाम ब्रह्मचर्य है लोकमें मैथुन सेवनसे निवृत्त होनेके ब्रह्मचर्य कहते हैं मैथुन सेवी व्यक्ति त आत्मामें प्रवृत्ति कर नहीं सकता अतः जो चतुर्थ व्रत ब्रह्मचर्यकी प्रतिज्ञा लेकर व्यवहारसे आध्यात्मिक गुरुकी आज्ञानुसार और परमार्थसे स्वात्माधीन होकर प्रेमपूर्वक स्वात्मामें रमता है वही ब्रह्मचारी है वह परम आत्मज्ञानका स्वच्छन्द होकर अनुभवन करता है ५५

इस प्रकार ब्रह्मचर्यका कथन समाप्त होता है

आगे क्षमा आदि धर्मोंको गुप्ति आदिसे पृथक् करके कहनेका कारण बतलाते हुए उत्तम विशेषणको स्पष्ट करते हैं -

गुप्ति, समिति और व्रतोंकी रक्षाके लिए प्रतिक्रमणकी तरह गुप्ति आदिसे पृथक् करके क्षमा आदिको कहा है तथा प्रत्यक्ष फल लाभ आदिकी अपेक्षा न होनेसे उन्हें उत्तम कहा है इन उत्तम क्षमा आदिकेद्वारा शुद्धोपयोगी मुनि जयवन्त होता है ५६

विशेषार्थ - जैसे लगे हुए दोषोंको दूर करनेके लिए प्रतिक्रमण कहा है, उसी तरह गुप्ति, समिति और व्रतोंमें दोष न लगे, इसलिए उत्तम क्षमा आदिका पृथक् कथन किया है अन्यथा ये दस धर्म गुप्ति आदिमें ही समाविष्ट हो जाते हैं तथा क्षमा, मार्दव आदि दसों धर्म उत्तम ही होते हैं फिर भी उनके साथ उत्तम विशेषण इसलिए लगाया है कि किसी लौकिक फलकी अपेक्षासे पाले गये क्षमा आदि धर्म उत्तम नहीं होते जैसे शत्रुको बलवान् जानकर क्षमाभाव धारण करना उत्तम क्षमा नहीं है इसी तरह अन्य भी जानना इस प्रकार उत्तम क्षमा आदि दस लक्षण धर्मका अधिकार समाप्त होता है इन दस धर्मोंका विशेष कथन तत्त्वार्थसूत्र अ. ९ के व्याख्या ग्रन्थ सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक आदिमें किया है रत्नकरण्ड श्रावकाचारकी भाषाटीकामें पं. सदासुखजीने विशेष विस्तारसे कथन किया है ५६

मोक्षके मार्गमें बहुत विघ्न हैं^६ फिर भी उसमें कोई विघ्न न आवे, इसलिए बारह भावनाओंके चिन्तनमें संलग्न मुमुक्षुओंको नित्य उनकेचिन्तनमें लगे रहनेकी प्रेरणा करते हैं -

बहुविघ्नेऽपि शिवाध्वनि यन्निघ्नधियश्चरन्त्यमनदमुदः^६

ताः प्रयतः संचिन्त्या नित्यमनित्याद्यनुप्रेक्षाः^६ ५७^६

स्पष्ट म्^६ ५७^६

अथायुःकायेन्द्रियबलयौवनानां क्षणभङ्गरत्वचिन्तनान्मोहोपमर्दमुपदिशति -

चुलुकजलवदायुः सिन्धुवेलावदग्ड,

करणबलममित्रप्रेमवद्यौवनं च^६

स्फुट कुसुमवदेतत् प्रक्षयैकव्रतरथं,

क्व क्वचिदपि विमृशन्तः किंनु मुह्यन्ति सन्तः^६ ५८^६

चुलुकजलवत् - प्रतिक्षणगलद्रूपत्वात्^६ सिन्धुवेलावत् - आरोहावरोहवत्त्वात्^६ अमित्रप्रेमवत् - युक् तोपचारेऽपि व्यभिचारप्रकाशनात्^६ स्फुट कुसुमवत् इ सद्योविकारित्वात्^६ एतत् - आयुरादिचतुष्टयम्^६ प्रक्षयैकव्रतरथं - अवश्यंभाविनिर्मूलप्रलयम्^६ क्व क्वचिदपि - आयुरादीनां लक्ष्यादीनां च मध्ये एकस्मिन्नप्यर्थे^६ मुह्यन्ति - अनित्यताज्ञानहीना ममत्वाधीना वा भवन्ति^६ ५८^६

यद्यपि मोक्षके मार्गमें बहुत बाधाएँ हैं^६ फिर भी जिन अनुप्रेक्षाओंके चिन्तनमें व्यस्त मुमुक्षु अति आनन्दपूर्वक मोक्षमार्गमें विहार करते हैं, प्रयत्नशील मुमुक्षुओंको उन अनित्य आदि अनुप्रेक्षाओंका सतत चिन्तन करना चाहिए^६ ५८^६

विशेषार्थ - स्थिर चित्तसे शरीर आदिके स्वरूपके चिन्तनको अनुप्रेक्षा कहते हैं^६ अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्त्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म ये बारह अनुप्रेक्षा हैं^६ मुमुक्षुको इनका सदा मिलती है और सांसारिकतासे आसक्ति रहती है^६ ५७^६

आगे उपदेश करते हैं कि आयु, शरीर, इन्द्रिय, बल और यौवनकी क्षणभंगुरताका विचार करनेसे मोहका मर्दन होता है -

आयु चुल्लूमें भरे जलके समान है, शरीर समुद्रके किनारेके तुल्य है, इन्द्रियोंकी अर्थग्रहण शक्ति व शत्रुके प्रेमके तुल्य है, यौवन तत्काल खिले हुए पुष्पके समान है^६ इस तरह ये चारों विनाशशील हैं^६ इनका विचार करनेवाले सन्त पुरुषक् या किसीमें भी मोह कर सकते हैं, अर्थात् नहीं कर सकते^६ ५८^६

विशेषार्थ - जैसे चुल्लूमें भरा जल प्रतिक्षण चूता है, उसी तरह भवधारणमें निमित्त आयुर्कर्म भी प्रतिक्षण क्षीण होता रहता है^६ जैसे लवणसमुद्रका जल जहाँ तक ऊपर उठ सकता है उठता है फिर जहाँ तक नीचे जा सकता है जाता है, उसी तरह यह शरीर जब तक बढने योग्य होता है बढता है फिर क्रमशः क्षीण होता है^६ कहा है -सोलह वर्ष तककी अवस्था बाल्यावस्था कही जाती है^६ उसमें धातु, इन्द्रिय और

ओजकी वृद्धि होती है ७० वर्षकी उम्रके बाद वृद्धि नहीं होती, किन्तु क्षय होता है इन्द्रियोंका बल पदार्थोंको ग्रहण करनेकी शक्ति है वह शत्रुके प्रेमके समान है जैसे उचित उपचार करनेपर भी शत्रुका स्नेह समय पाकर टूट जाता है वैसे ही योग्य आहार - विहार आदि करनेपर भी इन्द्रियोंकी

१. वयस्त्वा षोडशाद्बाल्यं तत्र धात्विन्द्रियौजसाम्

वृद्धिरासप्ततेर्मध्यं तत्रावृद्धिः परं क्षयः

अथ सम्पदादीनामनित्यताचिन्तनार्थमाह -

छाया माध्याह्निकी श्रीः पथि पथिकजनैः संगमः संगमः स्वैः,

खार्था स्वप्नेक्षितार्थाः पितृसुतदयिताज्ञातयस्तोयभग्ङः

सन्ध्यारागोऽनुरागः प्रणयरससृजां ह्लादिनीदाम वैश्यं

भावाः सैन्यादयोऽन्येऽप्यनुविदधति तान्येव तद्ब्रह्म दुह्यः ५९

स्वैः - बन्धुभिः खार्थाः - इन्द्रियार्थाः पितृसुत - माता च पिता च पितरी, सुता च सुतश्च सुताविति ग्राह्यम् तोयभग्ङः - जलतरग्ङः ह्लादिनीदाम - विद्युन्माला अन्ये - सौधोद्यानादयः अनुविदधति - अनुहरन्ते तद्ब्रह्म - शाश्वतं ज्ञानम् दुह्यः - प्रपूरयामो वयमानन्दं वा स्त्रावयामः ५९"

अर्थग्रहण शक्ति त थोडा-सा भी व्यतिक्रम पाकर नष्ट हो जाती है तथा यौवन खिले हुए फूलके समान है जैसे खिला हुआ फूल कुछ समय तक सुन्दर दीखता है फिर मुरझा जाता है उसी तरह यौवन भी है इस तरह इन चारोंका क्षय नियमसे होता है इनके स्वरूपका सतत विचार करनेवाला कोई भी मुमुक्षु इनमें आसक्त नहीं हो हो सकता ५८

इस प्रकार आयु आदि अन्तरग्ङ पदार्थोंकी अनित्यताका चिन्तन करके संपत्ति आदि बाह्य पदार्थोंकी अनित्यताका चिन्तन करते हैं -

लक्ष्मी मध्याह्निकालकी छायाकी तरह चंचल है बन्धुओंका संयोग मार्गमें मिलनेवाले पथिकजनोंके संयोगकी तरह अस्थायी है इन्द्रियोंके विषय स्वप्नमें देखे हुए विषयोंकी तरह हैं माता, पिता, पुत्री, पुत्र, प्रिय और कुटुम्बीजन जलकी लहरोंकी तरह हैं मित्र आदि प्रियजनोंको अनुराग सन्ध्याके रागके समान हैं आदर, सत्कार, ऐश्वर्य आदि बिजलीकी मालाकी तरह है सेना, हाथी, घोडे आदि अन्य पदार्थ भी उन्हींकी तरह अनित्य हैं इसलिए हमें आत्मा और शरीरके भेदज्ञान रूप ब्रह्मको आनन्दसे पूरित करना चाहिए ५९

विशेषार्थ - जैसे मध्याह्निकी छाया क्षणमात्रतक रहकर लुप्त हो जाती है वैसे ही लक्ष्मी भी कुछ कालतक ठहरकर विलीन हो जाती है तथा जैसे यहाँ - वहाँसे आकर मार्गमें बटोही किसी वृक्ष आदिके नीचे विश्राम करकेअपने - अपने कार्यवश इधर - उधर चले जाते हैं वैसे ही बन्धुजन यहाँ - वहाँसे आकर

कुछ समयतक एक स्थानपर ठहरकर चले जाते हैं^६ अथवा जैसे बड़े ही पूर्व आदि दिशाको जाते हुए मार्गमें पश्चिम आदि दिशासे आनेवाले बड़े हीयोंके साथ कुछ समयतक मिलकर बिछुड जाते हैं^६ वैसे ही बन्धुजन भी मिलकर बिछुड जाते हैं^६ तथा जैसे स्वप्नावस्थामें देखे हुए पदार्थ तत्काल ही या जागनेपर कुछ भी अपना कार्य नहीं करते, उसी तरह स्त्री, चन्दनमाला आदि विषय भी भोगनेपर या या भोगकर छोडनेपर सन्ताप और तृष्णाकी शान्ति आदि कुछ भी नहीं करते^६ तथा जैसे जलमें लहरें उत्पन्न होकर शीघ्र ही विलीन हो जाती है उसी तरह पिता वगैरह भी कुछ कालतक ठहरकर चले जाते हैं^६ तथा जैसे सन्ध्याके समय कुछ कालतक लालिमा रहती है वैसे ही मित्र आदि की प्रीति भी कुछ ही कालतक रहती है^६ इसी तरह सेना वगैरह भी बिजलीकी चमककी तरह देखते -देखते ही विलीन हो जाती है^६ इस तरह सभी प्रकारकी बाह्य वस्तुएँ क्षणिक हैं^६ अतः उनमें मन न लगाकर आत्मामें ही लगाना चाहिए^६ ऐसा विचार करते रहनेसे बाह्य संपत्तिमें आसक्ति नहीं होती, और जैसे पुष्पमालाको भोगकर छोड देनेपर दुःख नहीं होता वैसे ही संपत्ति तथा बन्धु- बान्धुओंका वियोग होनेपर भी दुःख नहीं होता^६ इस प्रकार अनित्यानुप्रेक्षाका स्वरूप जानना^६ ५९^६

अथाशरणं प्रणिधत्ते -

तत्तत्कर्मग्लपितवपुषां लब्धवल्लिप्सितार्थं,

मन्वानानां प्रसममसुवत्प्रोद्यतं भ्रुतुमाशाम्^६

यद्वद्वार्यं त्रिजगति नृणां नैव केनापि दैवं,

तद्वन्मृत्युर्गसनरसिकस्तद् वृथा त्राणदैन्यम्^६ ६०^६

कर्म - कृष्यादि^६ प्रोद्यतं - अभिमुखेनोद्युक्तम्^६ ६०^६

अथ कालस्य चक्रीन्द्राणामप्यश्रुत्वा अतीकारत्वचिन्तनेन सर्वत्र बहिर्वस्तुनि निर्मोहतामालम्बयति -

सम्राजां पश्यतामप्यभिनयति न किंस्वं यमत्रचण्डिमानं,

शत्रवः सीदन्ति दीर्घक कन दयितवधूदीर्घनिद्रामनस्ये^६

आः कालव्यालदंष्ट्रं प्रकटतरतपोविक्रमा योगिनोऽपि,

व्याक्रेष्टु न क्रमन्ते तदिह बहिरहो यत् किमप्यस्तु किमे^६ ६१^६

अब अशरण अनुप्रेक्षाका विचार करते हैं -

कृषि आदि उन - उन कार्योंने जिनके शरीरको सत्त्वहीन बना डाला है, और जो इच्छित पदार्थको ऐसा मानते हैं मानो वह हमारे हाथमें ही है, ऐसे मनुष्योंकी आशाको प्राणोंकी तरह ही बलपूर्वक नष्ट करनेके लिए तत्पर दैव जैसे तीनों लोकोंमें किसीके भी द्वारा नहीं रोका जाता, उसी तरह प्राणोंको हरनेकी प्रेमी मृत्युको भी कोई नहीं रोक सकता^६ अतः शरणके लिए दीनता प्रकट करना व्यर्थ ही है^६ ६०^६

विशेषार्थ - संसारमें मनुष्य भविष्यके लिए अनेक आशाएँ करता है और उनकी प्राप्तिके लिए अनेक देवी - देवताओंकी आराधना भी करता है और ऐसा मान बैठती है कि मेरी आशा पूर्ण होनेवाली है
 ६ किन्तु पूर्वकृत कर्मोंका उदय उसकी आशाओंपर पानी फेर देता है ६ कहा है - पहले किये हुए अशुभ कर्म अपना समय आनेपर जब उदीरणाको प्राप्त होते हैं तो वे किसी चेतन इन्द्रादिके द्वारा और अचेतन मन्त्रादिके द्वारा या दोनोंके ही द्वारा रोके नहीं जा सकते ६ इसी तरह जब मृत्यु मनुष्यके प्राणोंका ग्रसनेके लिए तत्पर होती है तो उसे भी कोई नहीं रोक सकता ६ ऐसी स्थितिमें जब दैव और मृत्यु दोनों ही को रोकना शक्य नहीं है तब रक्षाकेलिए दूसरोंके सामने गिडगिडाना या अपनेको अशरण मानकर शोक नहीं है तब रक्षाकेलिए दूसरोंके सामने गिडगिडाना या अपनेको अशरण मानकर शोक आदि करना व्यर्थ ही है
 ७ सारांश यह है कि विवेकीजनोंको ऐसे समयमें धैर्यका ही अवलम्बन लेना उचित है ६० ६

आगे कहते हैं कि चक्रवर्ती, इन्द्र, और योगीन्द्र भी कालकी गतिको टालनेमें असमर्थ हैं ऐसा विचारकर मुमुक्षु सर्वत्र बाह्य वस्तुओंमें मोह नहीं करता -

समस्त पृथ्वीके स्वामी चक्रवर्ती राजाओंके देखते हुए भीक या यमराज अपनी प्रचण्डताको व्यक्त नहीं करता ? तथाक या इन्द्र चिरकालसे चले आते हुए प्रिय पत्नीके मरणके दुःखसे दुःखी नहीं होते ? अधिकक या कहा जाये, जिनका तपका प्रभाव जगत्में विख्यात है वे तपस्वी योगी भी कालरूपी सर्प या व्याघ्रकी दह को नष्ट करनेमें समर्थ नहीं हैं ६ इसलिए इन बाह्य वस्तुओंमें जो कुछ भी होओ, उससे मेरा कुछ भी नहीं बिगडता ६१ ६

कर्माण्युदीर्यमाणानि स्वकीये समये सति ६

२. प्रतिषेद्धुं न शक्यन्ते नक्षत्राणीव केनचित् ६ []

अभिनयति - अभिव्यनक्ति तर् चण्डिमानं - हठात् प्राणापहरणलक्षणं क्रूरत्वम् ६ दीर्घनिद्रामनस्यं - मरणदुःखम् व्याकरोष्टुं - प्रतिहन्तुम् ६ न क्रमन्ते - न शक्यन्ति यत्किमपि - व्याधिमरणादिकम् ६ किंमें - देहादेरत्यन्तभिन्नत्वात् मम नित्यानन्दात्मकस्य न किमपि स्यादित्यर्थः ६

यथाह -

न मे मृत्युः कुतो भीतिनं मे व्याधिः कुतो व्यथा ६

नाहं बालो न वृद्धोऽहं युवैतानि पुद्गले ६ [इष्टोम., २९ श्लो.] ६१ ६

अथ संसारमनुप्रेक्षितुमाह -

तच्चेद् दुःखं सुखं वा स्मरसि न बहुशो यन्तिगोदाहमिन्द्र -

प्रादुर्भावान्तनीचोन्नत - विविधपदेष्वभावाभ्यस्तमात्मन् ६

तत्किंते शक्यं स्वप्नं वं हतक परिणतं येन नानन्तराति -

क्रान्ते भुक् तं क्षणेऽपि स्फुरति तदिह वाक् कास्ति मोहः सगर्हः ६ ६२ ६

विशेषार्थ - चक्रवर्ती राजाओंके देखते हुए भी मृत्यु उनके पुत्रोंको अपने मुखका ग्रास बना लेती हैं
इन्द्रोंकी आयु सागरों प्रमाण होती है और उनकी इन्द्राणियोंकी आयु पल्योपम प्रमाण होती है अतः
जैसे समुद्रके जलमें लहरें उत्पन्न होकर नष्ट होती हैं वैसे ही इन्द्रकी सागरोपम प्रमाण आयुमें पल्योपम
प्रमाण आयुवाली इन्द्राणियाँ उत्पन्न होकर मर जाती हैं उनके मरणसे इन्द्रोंको दुःख होता ही है इस
प्रकार कालका प्रतीकार मर जाती हैं उनके मरणसे इन्द्रोंको दुःख होता ही है इस प्रकार कालका
प्रतीकार चक्रवर्ती और इन्द्र भी नहीं कर सकते तब क्या तपस्वी कर सकते हैं ! किन्तु जगत् - विख्यात
तपस्वी भी कालकी गतिको रोकनेमें असमर्थ होते हैं इसलिए तत्त्वज्ञ महर्षि विचारते हैं कि बाह्य वस्तु
शरीरकी भले ही मृत्यु होती हो, किन्तु आत्मा तो शरीरसे अत्यन्त भिन्न है, नित्य और आनन्दमाय है,
उसका कुछ भी नहीं होता कहा है -मेरा मृत्यु नहीं होती, तब उससे भयक शं ? मुझे व्याधि नहीं होती,
तब कष्ट क्या शं ? न मैं बालक हूँ, न वृद्ध हूँ और न जवान हूँ ये सब तो पुद्गलमें शरीरमें होते हैं उ
और भी - जीव भिन्न द्रव्य है, यह तत्त्वका सार है इससे भिन्न जो कुछ कहा जाता है वह इसीका
विस्तार है मुझसे शरीर वगैरह तत्त्वरूपसे भिन्न हैं और उनसे मैं भी तत्त्वरूपसे भिन्न हूँ - मैं जीव -
तत्त्व हूँ और शरीर आदि अजीव - तत्त्व हूँ अतः न मैं इनका कुछ हूँ और न ये मेरे कुछ हैं

ऐसा चिन्तन करनेसेमें नित्य शरण रहित हूँ उ ऐसा जानकर यह जीव सांसारिक भावोंमें ममत्व
नहीं करता, तथा सर्वज्ञके द्वारा कहे हुए मार्गमें अनुराग करता है ६१

इस प्रकार अशरण अनुप्रेक्षाका कथन समाप्त होता है

अब संसार अनुप्रेक्षाको कहते हैं -

हे आत्मन् ! अनादिकालसे निगोदसे लेकर नव ग्रैवेयकतकके अहमिन्द्र पद पर्यन्त नीच और ऊँचे
विविध स्थानोंमें तुमने जो अनन्तवार सुख और दुःख भोगा, यदि तुम उसका स्मरण नहीं करते हो तो हे
अभागे ! क्या बुद्धके वचनोंके साथ तुम्हारी एकरूपता हो गयी है जो अनन्तर अतीत क्षणमें भी भोगे हुए
सुख - दुःखका भी तुम्हें स्मरण नहीं होता अथवा ऐसा होना उचित ही है क्योंकि मोहको किसी भी
प्राणीके विषयमें ग्लानि नहीं है अर्थात् संसारके सभी प्राणी मोहसे ग्रस्त हैं ६२

समभवमहमिन्द्रोऽनन्तशोऽनन्तवारान्

पुनरपि च निगोतोऽनन्तशोऽन्तविवर्तः

किमह फलमभुव तं तद्यदद्यापि भोक्ष्ये

सकलफलविपत्तेः कारणं देव देयाः []

तत् - निरन्वयक्षणिकवादरूपम् शब्द - बुद्धः तत् - सुखं दुःखं च सगर्हः - जुगुप्सावान्
कमपि प्राणिनं ग्रसमानो न शूकायते इत्यर्थः ६२

अथ संसारदुरवस्थां सुतरां भावयन्नाह -

अनादी संसारे विविधविपदातकञ्चिनिचिते

मुहुः प्राप्तस्तां तां गतिमगतिकः किंकिमवहम्

अहो नाहं देहं कमथ न मिथो जन्यजनका-

द्युपाधिं केनागां स्वयमपि हहा स्वं व्यजनयम् ६३

आतकः - क्षोभावेशः तां तां - नरकादिलक्षणाम् अगतिकः - गतिः अपायनिवारणोपायस्तज्ज्ञानं वा
तद्रहितः किंकि- उत्सेहादिभेदेन नानाप्रकारम् प्रायिकमेतत् तेन सम्यक् त्वसहचारिपुण्योदय -

विशेषार्थ - यह जीव अनादिकालसे इस संसारमें भ्रमण करता है इस भ्रमणका नाम ही संसार है
संसारमें भट कते हुए इस जीवने सबसे नीचा पद निगोद और सबसे ऊँचा पद ग्रैवेयकमें अनन्त बार
जन्म लेकर सुख - दुःख भोगा है नव - ग्रैवेयकसे ऊपर सम्यग्दृष्टि जीव ही जन्म लेते हैं इसलिए यह
जीव वहाँ नहीं गया निगोद और ग्रैवेयकके मध्यके नाना स्थानोंमें भी इसने अनन्त बार जन्म लिया है
और सुख - दुःख भोगा है किन्तु लम्बी बन गया है व क्योंकि बौद्ध धर्म वस्तुके निरन्वय क्षणिक मानता
है क्षणिक तो जैन दर्शन भी मानता है व क्योंकि पर्याय उत्पाद- विनाशशील हैं किन्तु पर्यायोंके उत्पाद -
विनाशशील होनेपर भी उनमें कथंचिद् धौव्य भी रहता है बौद्ध ऐसा नहीं होता व क्योंकि जो सुख -
दुःख भोगता है वह तो उसी क्षणमें नष्ट हो जाता है यह सब मोहके ही महिमा है उसीके कारण इस
प्रकारके मत - मतान्तर प्रचलित हुए हैं और उस मोहके चंगुलसे कोई बचा नहीं है ६२

आगे मुमुक्षु स्वयं संसारकी दुःखावस्थाका विचार करता है -

हे आत्मन् ! इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोगके द्वारा होनेवाली विपत्तियोंके कष्ट से भरे हुए इस
अनादि संसारमें उन कष्टोंको दूर करनेका उपाय न जानते हुए मैंने बार - बार उन - उन नरकादि
गतियोंमें जन्म लेकर वर्ण - आकार आदिके उपाय न जानते हुए मैंने बार - बार शरीरोंको धारण नहीं
किया ? अर्थात् धारण करने योग्य सभी शरीरोंको धारण किया इसी प्रकार किस जीवके साथ मैंने
जन्य - जनक आदि उपाधियोंको नहीं पाया बडा कष्ट इस बातका है कि मैंने स्वयं ही अपनेको इस
अवस्थामें पहुँचाया ६३

विशेषार्थ - मिथ्यात्वके उदयसे संसारमें भट कता हुआ जीव उन सभी पर्यायोंको धारण करता है
जो सम्यक् त्वके सहचारी पुण्यके उदयसे प्राप्त नहीं होती सभी जीवोंके साथ उसका किसी न किसी
प्रकारका सम्बन्ध बनता रहता है वह किसीका पिता, किसीका

१. न्तर्निवृत्तः भ. कु. च. मु. ६

जन्यदेहानामप्रसङ्गः ६ अवहे - वहामि स्म ६ अहोप्रति संबोधनमिदम् ६ जन्यजनकाद्युपाधि-
उत्पाद्योत्पादक - पाल्यपालक - भोग्यभोजकादिविपरिणामम् ६ केन - जीवेन सह ६ अगां - गतः ६ व्यजनयं
- विशेषेणोत्पादयामि ६ ६३ ६

अथैत्वानुप्रेक्षाया भावनाविधिमाह -

किंप्राच्यः कश्चिदागादिह सह भवता येन साध्येत सध्वङ् -

प्रेत्येहत्योऽपि कोऽपि त्यज दुरभिमतिं संपदीवापदि स्वान् ६

सधीचो जीव जीवन्ननुभवसि परं त्वोपकतु सहैति,

श्रेयोऽहत्र्वापकतु भजसि तत इतस्तत्फलं त्वेककस्त्वम् ६ ६४ ६

पुत्र, किसीका पालक, किसीके द्वारा पाल्य आदि होता है ६ कहा भी है - जिस प्राणीका सभी प्राणियोंके
साथ सभी पिता - पुत्रादि विविध सम्बन्ध नहीं है ऐसा कोई प्राणी ही नहीं है ६

किन्तु यह कथन भी सार्वत्रिक नहीं है ६ क्योंकि नित्य निगोदको छोडकर अन्यत्र ही ऐसा होना
सम्भव है ६ कहा है -ऐसे अनन्त जीव हैं जिन्होंने त्रस पर्याय प्राप्त नहीं की ६ उनके भावपाप बडे प्रचुर
होते हैं जिससे वे निगोदवासको नहीं छोडते ६ इस विषयमें मतभेद भी है ६ गोमट्टसारकेट्टीकाकारने उस
मतभेदको स्पष्ट करते हुए कहा है कि निगोदको न छोडनेमें कारण भावपापकी प्रचुरता है ६ अतः जबतक
प्रचुरता रहती है तबतक निगोदको नहीं छोडते ६ उसमें कमी होनेपर नित्य निगोदसे निकलकर त्रस
होकर मोक्ष भी चले जाते हैं ६ इस सब परिभ्रमणका कारण स्वयं जीव ही है दूसरा काई नहीं है ६ अतः
संसारकी दशाका चिन्तन करनेवालाअहोइस शब्दसे अपनेको ही उद्बोधित करते हुए अपनी प्रवृत्तिपर
खेद खिन्न होता है ६ इस प्रकारकी भावना भानेसे जीव संसारकेदुःखोंसे घबराहट संसारको छोडनेका ही
प्रयत्न करता है ६ इस प्रकार संसार भावना समाप्त होती है ६ ६३ ६

अब एकत्वानुप्रेक्षाकी भावनाकी विधि कहते हैं -

हे जीव ! क या पूर्वभवका कोई पुत्रादि इस भवमें तेरे साथ आया है ? जिससे यह अनुमान किया
जा सके कि इस जन्मका भी कोई सम्बन्धी मरकर तेरे साथ जायेगा ६ अतः यह मेरे हैं इस मिथ्या
अभिप्रायको छोड दे ६ तथा हे जीव ! क या तूने जीते हुए यह अनुभव किया हे कि इस लोक या परलोकमें
उनका फल तू अकेला ही भोगता है ६ ६४ ६

विशेषार्थ - यदि परलोकसे कोई साथ आया होता तो उसे दृष्ट न्त बनाकर परीक्षक जन यह
सिद्ध कर सकते थे कि इस लोकसे भी कोई सम्बन्धी परलोकमें जीवके साथ जायेगा ६ किन्तु परलोकसे
तो अकेला ही आया है ६ अतः चूँकि परलोकसे साथमें कोई नहीं आया अतः यहाँसे भी कोई साथ नहीं

जायेगा^६ कहा है -जीव संसारमें अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मरता है और अकेला ही नाना योनियोंमें भ्रमण करता है^६

१ . एकाकी जायते जीवो भ्रियते च तथाविधः^६

संसारं पर्यट लेको नानायोनिसमाकुलम् []

प्राच्य : - पूर्वभवसंबन्धी^६ कश्चित् - पुत्रादिः^६ इह - अस्मिन् भवे^६ साध्येत - व्यवस्थाप्येत^६ सध्व्रङ् - सहागामी^६ इहत्यः - इह भवसंभवसंबन्धी^६ दुरभिमतिं - ममायमिति मिथ्याभिनिवेशम्^६ सधीचः - सहायान्^६ अनुभवसि - काव वा नानुभवीत्यर्थः^६ त्वा - त्वाम्^६ तत्फलं - सुखदुःखरूपम्^६ ६४^६

अथात्मनस्तत्त्वतो न कश्चिदन्वयी स्यादित्यनुशास्ति -

यदि सुकृतममाहङ्कार इ संस्कारमगुंडं,

पदमपि न सहैति प्रेत्य तत् किंपरेऽर्थाः^६

व्यवहृतितिमिरेणैवार्पितो वा चकास्ति,

स्वसमपि मम भेदसतत्त्वतोऽस्म्येक एव^६ ६५^६

सुकृतः - जन्मप्रभृतिनिर्मितः^६ ममाहंकारो - ममेदमिति ममकारो अहमिदमिति अहंकारश्च^६
संस्कारः - दृढ त्मप्रतिपत्तिः^६ परे - पृथग्भूताः पृथक् प्रतीयमानाश्च^६ तिमिरं नयनरोगः^६ चकास्ति -
आत्मानं दर्शयति^६ स्वयं - आत्मना आत्मनि वा^६ भेदः - ज्ञानसुखदुःखादिपर्यायनानात्वम्^६ एकः - पूर्वा-
परानुस्यूतैकचैतन्यरूपत्वात्^६ ६५^६

अथान्यत्वभावनायां फलातिशयप्रदर्शनेन प्रलोभयन्नाह -

दूसरे, मरनेकी बात तो दूर, जीवित अवस्थामें ही तेरे सगे - सम्बन्धी सुखमें ही साथ देते हैं, दुःख पडनेपर दूर हो जाते हैं^६ किन्तु तू जो पुण्य या पाप कर्म करता है वह परलोकमें तेरे साथ जाता है और तुझे सुख या दुःख देता है^६ तथा तू अकेला ही उनका फल भोगता है^६ पुण्य और पापका फल सुख तथा दुःख भोगनेमें दूसरा कोई सीझीदार नहीं होता^६ ६४^६

वास्तवमें कोई भी आत्माके साथ जानेवाला नहीं है यह कहते हैं -

इस शरीरमें जन्मकालसे ही ममकार और अहंकारका संस्कार बना हुआ है^६ यदि मरनेपर यह शरीर एक पग भी जीवके या मेरे साथ नहीं जाता, तो मुझसे साक्षात् भिन्न दिखाई देनेवाले स्त्री, स्वर्ण आदि अन्य पदार्थोंकी तो बात हीक या है ? अथवा व्यवहारनयरूपी नेत्र रोगकेद्वारा आरोपित मेरा स्वयं भी भेद आत्माका दर्शन कराता है^६ निश्चयनयसे तो मैं एक ही हूँ^६ ६५^६

विशेषार्थ - जीवका सबसे घनिष्ठ सम्बन्ध अपने शरीरसे होता है शरीर जीवके साथ ही जन्म लेता है और मरण पर्यन्त प्रत्येक दशामें जीवके साथ रहता है अतः शरीरमें जीवका ममकार और अहंकार बड़ा मजबूत होता है ममकार और अहंकारका स्वरूप इस प्रकार कहा है -- जो सदा ही अनात्मीय हैं, आत्माके नहीं हैं, तथा कर्मके उदयसे उत्पन्न हुए हैं उन अपने शरीर वगैरहमेंये मेरे हैं इस प्रकारके अभिप्रायको ममकार कहते हैं जैसे मेरा शरीर और जो भाव कर्मकृत हैं, निश्चयनयसे आत्मासे भिन्न है उनमें आत्मत्वके अभिप्रायको अहंकार कहते हैं जैसे, मैं राजा हूँ

फिर भी जब मरनेपर शरीर ही जीवके साथ नहीं जाता तब जो स्त्री, पुत्र, रू पया आदि साक्षात् भिन्न हैं उनके साथ जानेकी कल्पना ही व्यर्थ है तथा आत्मामें होनेवाली ज्ञान, सुख- दुःख आदि पर्यायें ही मेरे अस्तित्वमें तो आत्मा एक अखण्ड तत्त्व है इस प्रकारका चिन्तन करनेसे इष्ट जनोंमें राग और अनिष्ट जनोंमें द्वेष नहीं होता ६५

अब अन्यत्व भावनाका विशिष्ट फल बतलाकर उसके प्रति मुमुक्षुओंका लोभ उत्पन्न करते हैं -

नैरात्म्यं जगत इवार्य नैर्जगत्यं निश्चिन्वन्ननुभवसिद्धमात्मनोऽपि

मध्यस्थो यदि भवसि स्वयं विक्रि तं स्वात्मानं तदनुभवन् भवादपैषि ६६

नैरात्म्यम् - अनहंकारास्पदत्वात् नैर्जगत्यं - पराकारशून्यत्वात्

ॐ तं च -

परस्परपरावृत्ताः सर्वे भावाः कथंचन

नैरात्म्यं जगतो यद्वन्नैर्जगत्यं तथात्मनः [तत्त्वानु. १७५]

मध्यस्थः - रागद्वेषरहितोऽध्यात्मतत्त्वनिष्ठो वा विक्रि तं - देहादिभ्यः पृथग्भूतं शुद्धमित्यर्थः

अपैषि - प्रच्यवसे त्वम् ६६

अथान्यत्वभावनापरस्य ततोऽयुनरावृत्तिकामतां कथयति -

हे आर्य ! जिस प्रकार जगत्का स्वरूप नैरात्म्य है उसी तरह आत्माका स्वरूप नैर्जगत्य - समस्त परद्रव्योंके ग्रहणसे रहित है होकर अध्यात्म तत्त्वमें निष्ठ होता है तो स्वयं शरीरादिसे भिन्न आत्माका अनुभव करते हुए संसारसे मुक्त हो सकता है ६६

विशेषार्थ - संसारमें दो ही मुख्य तत्त्व हैं - जड और चेतन जड कभी चेतन नहीं हो सकता और चेतन कभी जड नहीं हो सकता अतः जगत्का स्वरूप नैरात्म्य है मैं इस रूपसे अनुभवमें आनेवाले अन्तस्तत्त्वको आत्मा कहते हैं और आत्मासे जो रहित है उसे निरात्म कहते हैं और निरात्मके भावको नैरात्म कहते हैं यह विश्व मैं इस बुद्धिका विषय नहीं है, एक आत्माके सिवाय समस्त परद्रव्य

अनात्मस्वरूप हैं^६ इसी तरह आत्माका स्वरूप भी नैर्जगत्य है^६ यह इस रूपसे प्रतीयमान समस्त बाह्य वस्तु जगत् है^६ और जगत्से जो निष्क्रान्त है वह निर्जगत् है उसका भाव नैर्जगत्य है^६ अर्थात् आत्मा समस्त परद्रव्योंके ग्रहणसे रहित है^६ आत्माके द्वारा आत्मामें द्वारा आत्मामें परके आकारसे रहित रूपसे संवेदन होता है^६ कहा भी है - सभी पदार्थ परस्परमें एक दूसरेसे भिन्न हैं^६ अतः जैसे जगत्का स्वरूप नैरात्म्य है वैसे ही आत्माका स्वरूप नैर्जगत्य है^६ ७

ऐसे वस्तुस्वरूपका विचार करके सामायिक चारित्रिका आराधक मुमुक्षु यदि मध्यस्थ रहे, किसीसे राग और किसीसे द्वेष न करके आत्मनिष्ठ रहे और शरीरादिसे भिन्न आत्माका अनुभवन करे तो संसारसे मुक्त हो सकता है^६ अतः मोक्षमार्गमें अन्यत्व भावनाका और कर्मके कार्य क्रोधादि भावोंसे भिन्न चैतन्यस्वरूप आत्माको नित्य भाना चाहिए^६ उससे नित्य आनन्दमय मोक्षपदकी प्राप्ति होती है^६ ६६

आगे कहते हैं कि जो अन्यत्व भावनामें लीन रहता है वह अपुनर्जन्मकी अभिलाषा करता है -

१. कर्मभ्यः कर्मकार्येभ्यः पृथग्भूतं चिदात्मकम्^६

आत्मानं भावयेन्नित्यं नित्यानन्दपदप्रदम् []

बाह्याध्यात्मिकपुद्गलात्मकवपुयुग्मं भृशं मिश्रणा -

द्धेम्नः किङ्ककालिकाद्वयमिवाभादप्यदोऽनन्यवत्^६

मत्तो लक्षणतोऽन्यदेव हि ततश्चान्योऽहमर्थादत-

स्तभेदानुभवात्सदा मुदमुमैम्यन्वेमि नो तत्पुनः^६ ६७

बाह्यं - रसादिधातुमयमौदारिकम्, आध्यात्मिकं - ज्ञानावरणादिमयं कार्मणम्^६ मिश्रणात् - कथंचिदे- कत्वोपगमात्^६ आभादपि - आभासमानमपि^६ अनन्यवत् - दुःशम रविवेचनत्वादभिन्नमिव^६ तथा चोक्तम्

ववहारणो भासइ जीवो देहो य हवइ खलु क्क^६

ण उ णिच्छयस्स जीवो देहो य कयावि एकद्धो^६ [समय प्राभृत, गा. २७]

लक्षणतः - अन्योन्यव्यतिकरे सति येनान्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणम्^६ तथेह देहस्य रूपपादिमत्वमात्म - नश्चोपयोगः^६ जीवदेहावत्यन्तं भिन्नौ भिन्नलक्षणलक्षितत्वात्, जलानलवत्^६ अन्यो हि - भिन्न एव^६ तद्भेदानुभवात् - वपुयुग्मादन्यत्वेनात्मनः स्वयं संवेदनात्^६ ७ तं च -

वपुषोऽप्रतिभासेऽपि स्वातन्त्र्येण चकासति^६

चेतना ज्ञानरूपेयं स्वयं दृश्यत एव हि^६ [तत्त्वानु०, १६८ श्लो.]

बाह्य रसादि धातुमय औदारिक शरीर और आध्यात्मिक ज्ञानावरणादिमय कार्मण शरीर, ये दोनों पुद्गलात्मक हैं; स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णमय परमाणुओं से बने हैं जैसे उसी तरह ये दोनों शरीर भी आत्मासे अत्यन्त मिले होनेसे अभिन्नकी तरह प्रतीत होते हैं किन्तु लक्षणसे ये दोनों मुझसे भिन्न ही हैं और भी वास्तवमें उनसे भिन्न हूँ इसलिए दोनों शरीरोंसे आत्माको भिन्न अनुभव करनेसे मैं सदा आनन्दका अनुभव करता हूँ और अब इन शरीरोंको मैं पुनः धारण नहीं करूँगा ६७

विशेषार्थ --- आत्माके साथ अभ्यन्तर कार्मण शरीर तो अनादि कालसे सम्बद्ध है किन्तु औदारिक आदि तीन शरीर अमुक --- अमुक पर्यायोंमें ही होते हैं ये सभी शरीर पौद्गलिक हैं पुद्गल परमाणुओंसे बनते हैं किन्तु आत्माके साथ इनका ऐसा मेल है कि उन्हें अलग करना कठिन है अतः बुद्धिमान् तक दोनोंको एक समझ बैठते हैं फिर भी लक्षणसे जीव और शरीरके भेदको जाना जा सकता है परस्परमें मिले हुए पदार्थ जिसकेद्वारा पृथक्पृथक् जाने जाते हैं उसे लक्षण कहते हैं शरीरका लक्षण रूपादिमान है और आत्माका लक्षण उपयोग है अतः आत्मा और शरीर अत्यन्त भिन्न हैं वंकी दोनोंका लक्षण भिन्न हैं, जैसे जल और आग भिन्न हैं समयसारमें कहा है --- व्यवहारनय कहता है कि जीव और शरीर एक हैं किन्तु निश्चयनयसे जीव और शरीर कभी भी एक नहीं हो सकते और भी कहा है --- जो अतीत कालमें चेतता था, आगे चेतगा, वर्तमानमें चेतता है वह मैं चेतन द्रव्य हूँ जो कुछ भी नहीं जानता, न पहले जानता था और न भविष्यमें जानेगा वह शरीरादि हैं, मैं नहीं हूँ ६८

घ्यदचेतत्तथापूर्व चेतिष्याति यदन्यदा

चेततीत्थं यदत्राद्य तच्चिद्र द्रव्यं समस्म्यहम्

यन्न चेतयते किञ्चिन्नाऽचेतयत किञ्चन

यच्चेतयिष्यते नैव तच्छरीरादि नास्म्यहम् ६९ --- तत्वानु. १५६, १५५ श्लो.

मुदमुपैमि उक् तं च ----

घआत्मानुष्ठानष्टिस्य व्यवहारबहिस्थितेः

जायते परमानन्दः कश्चिद्योगेन योगिनः [इष्टोपदेश, श्लो. ४७]

अन्वेमि नो --- नानुवर्तेऽहम् ७० तं च ---

तथैव भावयेद्देहाद् व्यावर्त्यात्मानमात्मनि

यथा न पुनरात्मानं देहे स्पर्जेऽपि योजयेत् [समाधित., श्लो. ८२] ६९

और भी कहा है --- अज्ञानी मनुष्यके शरीरमें स्थित आत्माके मनुष्य जानता है, तिर्यचके शरीरमें स्थित आत्माके तिर्यच जानता है, देवके शरीरमें स्थित आत्माके नारकी जानता है किन्तु परमार्थसे ऐसा नहीं है आत्मा तो अनन्त ज्ञान और अनन्तवीर्यसे युक्त है, स्वसंवेदनसे जाना जाता है और उसकी स्थिती अचल है

अतः आत्मा शरीरसे भिन्न है, शरीरके बिना ही उसका अनुभव होता है कहाँ है ---

छशरीरका प्रतिभास न होने पर भी यह ज्ञानरूप चेतना स्वतन्त्रतापूर्वक प्रकाशमान होती है^६ यह स्वयं ही देख जाती हैं^६

इसका अनुभवन करनेसे परमानन्दकी अनुभूति होती है^६ कहा है ---जो योगी आत्मा के अनुष्ठानमें तत्पर है और व्यवहारसे बहिर्भूत है उसे योगकेद्वारा अनिर्वचनीय परमानन्द की प्राप्ति होती है^६

इस तरह शरीर और आत्माके भिन्न अनुभव करनेसे पुनः आत्मा शरीरसे बद्ध नहीं होता है^६ कहा भी है --- शरीरसे भिन्न करके आत्माके आत्मामें उसी प्रकार भाना चाहिए जिससे आत्माको स्पष्टमें भी पुनः शरीरसे संयुक्त न होना पड़े^६ एकत्व अनुप्रेक्षासे अन्यत्व अनुप्रेक्षामें अन्तर यह है कि एकत्व अनुप्रेक्षामेंमें अकेला हूँइस प्रकार विधिरूपसे चिन्तन किया जाता है^६ और अन्यत्व अनुप्रेक्षामेंशरीर आदि मुझसे भिन्न हैं, मेरे नहीं हैंइस प्रकार निषेध रूपसे चिन्तन किया जाता है^६ ऐसा चिन्तन करनेसे शरीर आदिमें निरीह होकर सदा कल्याणमें ही तत्पर रहता है^६६७

इस प्रकार अन्तत्त्व अनुप्रेक्षाका कथन समाप्त होता है^६

आगे शरीरकी अपवित्रताका विचार करते हुए आत्माका शरीरके प्रति जो पक्षपात है उसकी निन्दा करते हैं ---

घ्नरदेहस्थमात्मानमाविद्वान् मन्यते नरम्^६

तिर्यञ्चं तिर्यगद्भ्रस्थं सुरागद्भ्रस्थं सुरं तथा^६

नारकं नारकागद्भ्रस्थं न स्वयं तत्त्वतस्तथा^६

अनन्तान्तधीशङ्गि तः स्वसंवेद्योऽचलस्थितिः^६ --- समाधित., ८-९ श्लो.^६

ध्वपुषोऽप्रतिभासेऽपि स्वातन्त्र्येण चकासतिं

चेतना ज्ञानरूपेयं स्वयं दृश्यत एव हिं []

केऽपि प्रकृत्यशुचिनीह शुचेः प्रकृत्या,

भूयान्वसेरकपदे तव पक्षपातः^६

यद्विश्रसा रुचिरमर्पितमर्पित द्राग् ,

व्यत्यस्यतोऽपि मुहुरुद्विजसेऽङ्ग नाङ्गात्^६६८

वसेरकपदे --- पथिकनिशावासस्थाने^६ तेन च साधर्म्यमङ्गस्य परद्रव्यत्वादल्पकालधिवास्यत्वाच्च^६ विस्त्रसा रुचिरं --- निसर्गरम्यं श्रीचन्दनानुलेपनादिं^६ द्राग् व्यत्यस्यतः -- सद्यरे विपर्यासं नयतः^६६८

अथ देहस्य त्वगावरणमात्रेणैव गुधाद्यनुपाधातं प्रदर्श्य तस्यैव शुद्धस्वरूपदर्शननिष्ठात्माधिष्ठानतामात्रेण पवित्रताकरणात् सर्वजगद्विशुद्धयङ्गतासम्पादनायात्मानमुतहयति ---

निर्मायास्थगशियदग्डमनया वेधा न भोश्चेत् त्वचा,
तत् क्रव्यादभिरखण्डयष्यित खरं दायादवत् खण्डशः^६
तत्संशुध्दनिजात्मदर्शनविधावग्र सरत्वं नयन्,
स्वस्थित्येकपवित्रमेतदखिलत्रैलोक स्तीर्थं कुरु^{६९}

अस्थागयिष्यत् --- आच्छादयिष्यत् अनया -- बाह्यया^६ क्रव्याद्रिः --- मांसभक्षैर्गृध्वादिभिः^६
दायादवत् --- दायादैरिव, सक्रोधमिथः : स्पध्दासंरब्धत्वात्^{६९}

हे आत्मन् ! यह शरीर स्वभावसे ही अपवित्र है और पथिव जानोंके रात--भर ठहरनेके लिए बने स्थानके समान पराया तथा थोड़े समयके लिए हैं^६ किन्तु तुम स्वभावसे ही पवित्र हो, फिर भी तुम्हारा शरीरके प्रति कोई महान् अलौकिक पक्षपात है;क^६ योंकि शरीरपर बार --- बार लगाये गये स्वभावसे सुन्दर चन्दन आदिको यह शरीर तत्काल गन्दा कर देता है फिर भी तुम इससे विचर त नहीं होते^{६८}

विशेषार्थ --- शरीर स्वभावसे ही अपवित्र हैक^६ योंकि यह रज और वीर्यसे बना है तथा रस, रुधिर आदि सप्त धातुमय है एवं मल--- मुत्रका उत्पत्ति स्थान है^६ इसपर सुन्दरसे सुन्दर द्रव्य लगाये जानेपर भी यह उस द्रव्यको ही मलिन कर देता है^६ फिर भी यह आत्मा उसके मोहमें पड़ा हुआ है^६ कहा है ---इस शरीरपर जो भी सुन्दर वस्तु लगायी जाती है वही अपवित्र हो जाती है^६ हे जीव ! इसकी छायासे ढगाये मलद्वारोंसे युक्त इस क्षणभंगुर शरीरका तूक^६ यों लालन करता है ?^{६८}

यह शरीर चारसे आच्छादित होनेसे ही गृध्द आदिसे बचा हुआ है^६ फिर भी वह शरीर शुध्द स्वरूपको देखनेवाले आत्माका निवासस्थान होनेसे पवित्रताका कारण है^६ अतः ग्रन्थकार समस्त जगत्की विशुध्दिके लिए आत्माके उत्साहित करते हैं ---

हे आत्मान् ! यदि विधाताने शरीरको बनाकर इस त्वचासे नढ क दिया होता तो मांसभक्षी गृ,द आदिके द्वारा यह उसीटुकडे--टुकडे कर दिया गया होता, जैसे पिता वगैरहकी जायदादके भागीदार भाई वगैरह उसी वस्तुको टुकडे-टुकडे कर डालते हैं जिसका बँट बारा

घआधीयते यदिह वस्तु गुणाय यान्तं

काये तदेव मुहुरेत्यपवित्रभावम्^६

छायाप्रतारितमतिर्मलरन्ध्रवन्धं

किं जीव लालयासि भग्दुरमेतदग्डम् []

अथास्त्रवमनुप्रेक्ष्यमाणस्तद्दोषांश्चिन्तयन्नाह ---

युक्ते चित्तप्रसक्त्या प्रविशति सुकृतं तद्भवित्यत्र योग ---

द्वारेणाहत्य बद्धः कनकनिगडवद्येन शर्माभिमाने

मूर्च्छन् शोच्यः सतां स्यादतिचिरमयमेत्यात्तसंक्तेषाभावे,

यत्त्वं हस्तेन लोहान्दुकवदसितच्छिन्नमर्मैव ताम्येत् ७०

योगद्वारेण --- कायवाङ्मनःकर्ममुखेन एति -- आगच्छति, आस्त्रवतीति यावत् आत्तसंक्तेषाभावे

--- अप्रशस्तरागद्वेषमोहपरिणते भविनि अवसितः --- बुद्धः छिन्नमर्मा ---

घविषमं स्पन्दनं यत्र पीडनं रुक्च मर्म तत् ७०

शुद्ध ब नही होता इसलिए आत्माका वासस्थान होनेसे परम पवित्र इस शरीरको सम्यक् रूपसे शुद्ध निज आत्माके दर्शनकी विधिमें प्रधान बनाकर सकल जगत्की विशुद्धिका अंग बनाओ ६९

विशेषार्थ --- यद्यपि शरीर परम अपवित्र है तथापि उसमें आत्माका वास है इसलिए वह पवित्र है अब उस शरीरमें रहते हुए उसकेद्वारा वह सब सत्कार्य करना चाहिए जिससे अपनी शुद्ध आत्माका दर्शन हो और शुद्ध आत्माके दर्शन होनेपर धीरे - धीरे परमात्मा बनकर अपने विहारसे, दिव्योपदेशसे इस जगत्को तीर्थरूप बना डालो इस तरह यह स्वयं अपवित्र शरीर पवित्र आत्माके योगसे सकल जगत् को पवित्र बनानेमें समर्थ होता है इस प्रकार विचार करनेसे विश्व त हुआ मुमुक्षु अशरीरी होनेका ही प्रयत्न करता है ६९

अब आस्त्रवहा विचार करनेकेलिए उसकेदोषोंका विचार करते हैं ---

जिस समय यह संसारी जीव प्रशस्त राग, दयाभाव आदि परिणामसे युक्त होता है उस समय मन या वचन या कायकी क्रियाकेद्वारा आत्मप्रदेश परिस्पन्दरूप योगकेद्वारा पुण्यकर्मसे योग्य पुद्गलोंका प्रवेश होता है उस विशिष्ट शक्ति त परिणाम रूपसे अवस्थित पुण्यकर्मसे यह जीव बलपूर्वक बँध जाता है जैसे कोई राजपुरुष सोनेकी बेड़ियोंसे बाँधा जानेपर अपना बड़प्पन मानकर यदिसुखी होता है तो वस्तुस्थितिको समझनेवाले उसपर खेद ही प्रकट करते हैं, उसी तरह पुण्यकर्मसे बद्ध होनेपर घमें सुखी हूँ इस प्रकारका अहंकार करकेपत्योपम आदि लम्बे काल तक मोहमें पड़े व्यक्ति त्पर तत्त्वदर्शी जन खेद ही प्रकट करते हैं और जिस समय यह जीव अप्रशस्त राग-द्वेष आदि रूप परिणामोंसे युक्त होता है तो आत्म प्रदेश--- परिस्पन्दरूप योगके द्वारापापकर्मके योग्य पुद्गलोंका प्रवेश होता है विशिष्ट शक्ति त परिणाम रूपसे अवस्थित उस पापकर्मसे चिरकाल तक बद्ध हुआ जीव उसी तरह कष्ट भोगता है जैसे कोई अपराधी लोहेकी साँकलसे बाँध जानेपर मर्मस्थानके छिद जानेसे दुःखी होता है ७०

विशेषार्थ --- मनोवर्गणा, वचनवर्गणा या कायवर्गणाके निमित्तसे होनेवाले आत्माके प्रदेशोंके हलनचलनको योग कहते हैं इस योगके निमित्तसे ही जीवमें पौद्गलिक ज्ञानावरणादि कर्मोंका आस्त्रव अर्थात् आगमन होता है जिस समय जीवके शुभ परिणाम होते हैं उस समय पुण्यकर्मोंमें स्थिति अनुभाग

विशेष पड़नेसे पुण्यकर्मका आस्त्रव कहा जाता है और जिस समय संकट तथा परिणाम होते हैं उस समय पापकर्ममें विशेष स्थिति अनुभाग

षष्ठ अध्याय

अथास्त्रवं निरुन्धानस्यैव मुमुक्षोः क्षेमं स्यादन्यथा दुरन्तसंसारपात इत्युपदेष्टुमाह-

विश्वातड.विमुक् त्मुक्ति तनिलयद्रउ.ग्रिमाप्तयुन्मुखः,

सद्रत्नोच्चयपूर्णमृद्रभट विपद्रभीमे भवाम्भोनिधौ ।

योगच्छिद्रपिघानमादघदुरुघोगः स्वपोतं नये-

न्नो चेन्मडक्ष्यति तत्र निभंरविशत्कर्मांभुभारादसौ ।

द्रडंग्रिम-प्रसिध्दाधिष्ठान समुद्रत्त पत्तनादि स्वपोतं-आत्मानं यानपात्रमिव भवार्णवोत्तारण- प्रवणत्वात्

अथ संवरगुणांश्चिन्तयति-

पडनेसे पापकर्मका आस्त्रव कहा जाता है । अन्यथा केवल पुण्यकर्मका आस्त्रव नहीं होता क्योंकि घातिया कर्म पुण्यकर्मके साथ भी तबतक अवश्य बँधते हैं जबतक उनके बन्धका निरोध नहीं होता । पुण्यकर्मको सोनेकी साँकल और पापकर्मको लोहेकी साँकलकी उपमा दी गयी है । अज्ञानी जीव पुण्यकर्मके बन्धको अच्छा मानते हैं क्योंकि उसके उदयमें सुख-सामाग्रीकी प्राप्ति होती है । यह सुख मानना वैसा ही है जैसे राजपुरुष सोनेकी साँकलसे बाँधा जानेपर सुखी होता है । वस्तुतः बन्धन तो बन्धन ही है जैसे लोहेकी साँकलसे बाँधा मनुष्य परतन्त्र होता है जैसे ही सोनेकी साँकलसे बाँधा मनुष्य भी परतन्त्र होता है । इसीके तत्त्वज्ञानी पुण्य-पापमें भेद नहीं करते, दोनोंको ही बन्धन मानते हैं ॥ ७० ॥

जो मुमुक्षु आस्त्रव को रोक देता है उसीका कल्याण होता है । आस्त्रवको न रोकनेपर दुरन्त संसारमें भ्रमण करना पडता है, ऐसा उपदेश देते हैं-

यह संसार समुद्रके समान न टरि जा सकनेवाली विपत्तियोंके कारण भयंकर है । इस संसारसमुद्रसे पार उतारनेमें समर्थ होनेसे अपना आत्मा जहाजके समान है । जैसे जहाजमें उत्तम रत्न आदि भरे होते हैं जैसे ही इस आत्मारूपी जहाजमें सम्यग्दर्शन आदि गुणोंका भण्डार भरा है । इसका संचालक महान उद्योगी अप्रमत्त संयत मुनि है । उसे चाहिये कि योग रूपी छिद्रोंको बन्द करके इसे उस मुक्ति रूपी तट बर्ती नगरकी ओर ले जाये, जो जगत्रके समस्त प्रकारके क्षोभोंसे रहित है । यदि वह ऐसा नहीं करता तो यह आत्मारूपी जहाज उसमें तेजीसे उसमें तेजीसे प्रवेश करनेवाले कर्म रूपी जलके भारसे उसी संसार समुद्रमें डूब जायेगा ॥ ७१ ॥

विशेषार्थ- संसाररूपी समुद्रमें पडे हुए आत्मारूपी जहाजमे योगरूपी छिद्रोंसे कर्मरूपी जल सदा आता रहता है । तत्त्वार्थ सूत्रके छठे अध्यायमें पाँच इन्द्रिय, चार कषाय, पाँच पाप और पचीस क्रियाओंको साभ्यरायिक आस्त्रवका कारण कहा है । क्योंकि ये सब अतीन्द्रियज्ञान स्वभाव तथा रागादि विकल्पोंसे शून्य चैतन्यके घातक हैं । अतः इनको रोके बिना परमात्मपदरूपी उस तट बर्ती महानक नगर तक आत्मारूपी जहाज नहीं जा सकता । तत्त्वार्थवातिकमे अकर्लक देवने भी कहा है कि समुद्रमें छेद सहित जहाजकी तरह यह जीव इन्द्रियादिके द्वारा होनेवाले आस्त्रवोंके कारण संसार समुद्रमे डूब जाता है ऐसा

चिन्तन करनेसे उत्तम क्षमादि रूप धर्मोंमें ये कल्याणकारी है, इस प्रकारकी बुद्धि स्थिर होती है । इस प्रकार आस्त्रव भावनाका कथन किया ॥ ७१ ॥

अब संवरकेचिन्तनकेलिब उसकेगुणोंका विचार करते हैं-

कर्मप्रयोक् ऋपरन्त्रयात्परडगें

प्रव्यं त्भूरिरसभावभरं न् न्तीस ।

चिच्छि त्मग्रिमपुमर्थसमागमाय

व्यासेघतः स्फुरति कोऽपि परो विवेकः ॥ ७२ ॥

कर्मप्रयोक् ऋ- ज्ञानावरणादिकर्मविपाको नष्ट याचार्ययुः। रड- नर्तनस्थानर्म । रसः-

विभावा,भरभिव्यं तः स्थायीभावी रत्यादिभावः देवादिविषया रतिः। व्यभिचारी च व्यं त। न् न्ती-
अवस्यन्द्रमानाम् । जीवेने सह भेदविवक्षया चिच्छि त्तेरेवमुच्यते । स एष आत्मप्रदेशपरिस्पन्दलक्षणः कर्मा
स्त्रवकारणं योगी बोध्यः । ॐ तं च -

पोग्गलीविवाइदेहोदण मणवयकायजुम्मस्स ।

जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागमकारणं जोगो ॥ (गो. जी., गा. २१५)

एतेन नर्तकीमुपमानमाक्षिपति । अग्रिमपुमर्थः- प्रधानपुरुषाघो धर्मो मोक्षो वा । पक्षे, कामस्याग्रे
भवत्वादर्थः । तस्यैव विजिगीषुणा यत्नतोऽर्जनीयत्वाद् विषयोपभागस्य चेन्द्रियमनः प्रसादनमात्रफलत्वेन
यथावसरमनुज्ञानात्र । व्यासेघतः- निषेधतः परो विवेक- शुद्धोपयोगेऽवस्थान हिताहितविचारश्च । ॐ तं
च-

विहाय कल्पनाजालं स्वरूपे निश्चलं मनः-

यदाधत्ते सर्वव स्थान्मुनेः परमसंवरः (ज्ञानार्णव २१३८) ॥ ७२ ॥

अथ मिथ्यात्वाघास्त्रवप्रकारान शुध्दसम्यकत्वादिसंवरप्रकारैरनिरुधतो

मुख्यमशुकर्मसंवरणमानुशंगिकचृ सर्वसंपत्प्राप्तिप्रयोग्यत्वफलमाह-

जैसे नर्तकी नृत्यके प्रयोक् ऋ नष्ट याचार्यकी अधीनतामें रंगभूमिमें नाना प्रकारके रसों और भावोंको दर्शाती हुई नृत्य करती है, जो विजिगीषु कामके आगे होनेवाले पुरुषार्थकी प्राप्तिके लिए उस नृत्य करनेवाली न्तीको रोक देते हैं उनमें कोई विशिष्ट वशमें होकर आत्मारूपी रंगभूमिमें अने प्रकारके रसों और भावोंको व्यं त करती हुई चित्तूशक्ति त परिस्पन्द करती है । प्रधान पुरुषार्थ मोक्ष या धर्मकी प्राप्तिके लिए जो घट सान योगी मुनि उसे रोकते हैं उनके कोई अनिर्वचनीय उत्कृष्ट विवेक अर्थात् शुद्धोपयोगमें स्थिती प्रकट होती है ॥ ७२ ॥

विशेषार्थ-चेतनकी शक्ति त्को चित्रशक्ति त कहते है । जीवनके साथ भेदविवक्षा करके ॐ त प्रकारसे कथन किया है । अन्यथा चित्तशक्ति त तो जीवका परिणाम है वह तो द्रव्यके आश्रयसे रहती है। चित्तशक्ति तके चलनको ही आत्मप्रदेश परिस्पन्दरूप योग करते हैं जो कर्मोंके आस्त्रवका कारण है । कहा है- पुद्गल विपाकी शरीर नामकर्मके उदयसे मन-वचन-कायसे युक् त जीवकी जो शक्ति त कर्मोंके आनेमें कारण है उसे योग कहते हैं । चेतनकी इस शक्ति त्को रोककर शुद्धोपयोगमें स्थिर होनेसे ही परम संवर होता है ।

कहा है- कल्पना जालको दूर करके जब मन स्वरूपमें निश्चल होता है तभी ही मुनिके परम संवर होता है

॥ ७२ ॥

संवरके शुद्ध सम्यक्त्व आदि भेदोंके द्वारा जो आस्त्रवके मिथ्यात्व आदि भेदोंको रोकते हैं उन्हें अशुभ कर्मोंके संवर रूप मुक्त व फलकों और सम्पूर्ण सम्पत्तियोंको प्राप्त करनेकीय योग्यता रूप आनुषंगिक फलकी प्राप्ति होती है, ऐसा कहते हैं-

मिथ्यात्वप्रमुखद्विषदुबलमवस्कन्दाय दृष्यदूबलं,

रोद्धुं शुद्धसुदर्शनादिसुभ्रतान् युल्लन यथास्वं सुधीः ।

दुष्कर्मप्रकृतीर्न दुर्गतिपरीवर्तेकपाकाः परं,

निःशेषाः प्रतिहान्ति हन्त कुरुते स्वं भोक्त्सुमुक्ताः श्रियः ॥ ७३ ॥

अवस्कन्दाय-लक्षणया शुद्धात्मस्वरूपोपघाताय अतर्कितोपस्थितप्रपाताय च । दुष्कर्मप्रकृतीः-

असद्वेद्यादीन् दुराचारानीत्यादीश्च । दुर्गतिः- नरकादिगति निर्द (निर्ध) नत्व च ॥ ७३ ॥

अथ निर्जरानुप्रेशितुं तदनुग्रहं प्रकाशयत्राह-

यः स्वस्याविश्य देशान गुणविगुणतया भ्रश्यतः कर्मशत्रून्,

कालेनोपेक्षमाणः क्षयमवयवशः प्रापयंस्तप्तुकामानू ।

धीरस्तैस्तैरुपायैः प्रसभमनुषजत्यात्मसंपघजस्त्र,

तं वाहीश्रियोऽदूः श्रितमपि रमयत्यान्तरश्रीः क्व क्षैः ॥ ७४ ॥

स्वस्य- स्वात्मनो नायकात्मश्च । देशान- चिदंशान विषयांश्च । गुणाः-

सम्यक्त्वादयः सन्धिविग्रहादयश्च । तेषां विगुणता पार्क्यां (?) प्रतिलोम्यं मिथ्यात्वादित्रमुत्तरेषा च यप्रयोगवैपरीत्ययम् । अवयवशः-अंशेन । तप्तुकामान-स्वफलदानोन्मुखान उपद्रोतुमिच्छुश्च । धीर-योगीश्वर उदात्त नायकश्च । तैस्तैः-अनशनादित्तपोभिर्घाट क्वादिभिश्च । आत्मसंपदि-आत्मसंविती विजिगीषुगुणसार्म्यां

शुद्ध आत्मस्वरूपका घात करनेके लिए मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति, प्रसाद, कषाय और योगरूपी शत्रुओंकी सेनाका हौसला बहुत बढ़ा हुआ है । उनको रोकनेके लिए जो विचारशील मुमुक्षु निरतिचार सम्यग्दर्शन आदि योद्धाओंको नियुक्त करता है अर्थात् मिथ्यादर्शनको रोकनेके लिए सम्यग्दर्शनको, मिथ्याज्ञानको रोकनेके लिए सम्यग्ज्ञानको, अविरतिको रोकनेके लिए व्रतोंको, प्रभादको रोकनेके लिए उत्साहको, क्रोधके लिए क्षमाको, मानके लिए मादवको, मायाके लिए आर्जवको, लोभके लिए शौचको, राग-द्वेषके लिए समताको, मनोयोगके लिए मनानिग्रहको, वचनयोगके लिए वचननिग्रहको और काययोगके लिए कायनिग्रहको नियुक्त करता है, वह नारक, तिर्यच, कुमानुष और कुदेव पर्यायों-में भ्रमण करानेवाली समस्त असाता वेदनीय आदि पापकर्म प्रकृतियोंके बन्धको

ही नहीं रोकता, किन्तु प्रसन्नताके साथ कहना पडता है कि देवेन्द्र-नरेन्द्र आदिकी विभूतियोंको अपने भोगके लिए उत्काण्ठित करता है। अर्थात् न चाहते हुए भी उस भाग्यशालीके पास इन्द्र आदिकी सम्पदा स्वयं आती है ॥ ७३॥

इस प्रकार संबर अनुप्रेक्षाका कथन समाप्त होता है।

अब निर्जराका विचार करनेके लिए उसके अनुग्रहको प्रकट करते हैं-

जो कर्मरूपी शत्रु सम्यक्त्व आदि गुणोंके मिथ्यात्व आदि परिणामरूप होनेसे आत्माके कर्मोंसे मलिन हुए अंशोंसे विशिष्ट शक्ति रूप परिणामसे स्थित होकर समयसे स्वयं पककर छूट जाते हैं, उनकी जो उपेक्षा करता है, और जो कर्म शत्रु अपना फल देनेके उन्मुख हैं उनका अनशन आदि उपायोंके द्वारा बलपूर्वक अंश-अंश करके क्षय करता है, तथा परिषह उपसर्ग आदिसे न घबराकर निरन्तर आत्मसंवेदनमें लीन रहता है, तपके अतिशयकी शृद्धिरूप बाह्य लक्ष्मीकी गोदमें बैठे हुए भी उस धीर मुमुक्षुको अनन्तज्ञानादिरूप अभ्यन्तर लक्ष्मी कटिखोंके द्वारा रमण कराती है ॥ ७४ ॥

च। वाहीकश्रियः-बाह्यलक्ष्म्यास्तपोतिशयर्द्धः जनपदविभूतेश्च। आन्तरश्रीः-अनन्तज्ञानादिविभूतिः
दुर्गमध्यगतसंपच्च। कटिखैः-अनुरागोदेकानुभावैः ॥ ७४॥

अथानादिप्रवृत्तबन्धसहभाविनिर्जरानृशयृशयानपृस्मरणपृस्सर
संवरसहभाविनिर्जराप्रधानफलमात्मध्यानं प्रतिजानीते-

भोजं भोजमुपात्तमुज्झति मयि भ्रान्तेऽपशोऽनल्पशः,

स्वीकुर्वत्यपि कर्म नुतनमितः प्राति को न कालो कतः।

संप्रत्येष मनोऽनिश प्रतिदवेयात्मं न विन्दन बहि-

दुःख येन निरास्त्रवः शमरसे मज्जन्भजे निर्जराम ॥ ७५ ॥

भोजं भोजं-भुक्त्वा भुक्त्वा। भ्रान्ते-अनात्मीयातात्मभुतेष्वस्तिषु (?) ममाहमिति जायति सति। न
विन्दन-अचेतयमानः ॥ ७५ ॥

विशेषार्थ- कर्मबन्धका कारण है आत्माके सम्यक्त्व आदि गुणोंका मिथ्यात्व आदि रूपसे परिणामान, और इस परिणामनका कारण है कर्मबन्ध। बँधनेवाले कर्म आत्माके मलिन हुए अंशोंके साथ विशिष्ट शक्ति रूप परिणामसे स्थित होकर जब उनका स्थितिकाल पूरा होता है तो स्वयं झड जाते हैं। किन्तु जो कर्म अपना फल देनेके अभिमुख होते हैं, उनको तपके द्वारा निर्जीण कर दिया जाता है। इस प्रकार संवरपूर्वक निर्जरा करनेवाला तथा आत्मसंवर्तितमें लीन मुमुक्षु शीघ्र ही मुक्ति व लक्ष्मीका वरण करता है ॥ ७४ ॥

निर्जराके दो प्रकार हैं-एक बन्धके साथ होनेवाली निर्जरा और दुसरी संवरपूर्वक निर्जरा। पहली निर्जरा तो अनादि कालसे होती आती है अतः उसका पश्चात्तापपूर्वक स्मरण करते हुए संवरके साथ होनेवाली निर्जरा जिसका प्रधान फल है, उस आत्मध्यानकी प्रतिज्ञा करते हैं-

अनादि मिथ्यात्वके संस्कारवश शरीरको ही आत्मा मानते हुए मैंने संचित कर्मोंको भोग-भोगकर छोड़ा तो कम परिमाणमें, और नवीन कर्मोंका बन्ध किया बहुत अधिक परिमाणमें । ऐसा करते हुए इस वर्तमान समयसे पहले कितना काज नहीं बीता । अब स्वसंवेदनसे प्रत्यक्ष मैं (आत्मा) मनको आत्मामें ही लगाऊँगा, जिससे परिषल उपसर्गसे होनेवाले दुःखोंसे बेखबर होकर, अशुभ कर्मोंका संवर करके प्रशमसुखमें निमग्न होकर एकदेश कमक्षयरूप निर्जराको कर सकूँ ॥ ७५ ॥

विशेषार्थ-अनादिकालसे कर्मबन्धपूर्वक निर्जरा तो होतयी ही है । जिन कर्मोंकी स्थिती पूरी हो जाती है वे अपना फल देकर झड़ जाते हैं । किन्तु उसकेसाथ ही जितने कर्मोंकी निर्जरा होती है उनसे बहुत अधिक

कर्मोंका नवीन बन्ध भी होता है । इससे संसार का अन्त नहीं आता । संवरपूर्वक जो निर्जरा होती है वही निर्जरा वस्तुतः निर्जरा है । ऐसी निर्जरा तप आदिकेद्वारा ही होती है । तप करते हुए परिषह आदि आनेपर भी दुःखकी अनुभूति नहीं होती किन्तु आनन्द की ही अनुभूति होती है और वह आनन्द कर्मोंको नष्ट करता है । कहा है - जब योगी प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप व्यवहार से रहित होकर आत्माके अनुष्ठान में स्वरूप की प्राप्तिमें लीन हो जाता है तब उसको परम समाधिरूप ध्यानसे किसी बचनातीत परमानन्दकी प्राप्ति होती है । यह आनन्द उस उग्र कर्मरूपी ईधनको निरन्तर जलाता है । उस समय वह योगी बाह्य कारणोंसे होनेवाले कष्टोंकेप्रति कुछ भी नहीं जानता । अतः वह उनसे खिन्न नहीं होती ।

अथ लोकालोकस्वरूप निरूप्य तद्वावनापरस्य स्वात्मोपब्धियोयतामुपदिशति-

जीवाघर्थचितो दिवर्धमुरजाकएरिस्त्रिवातीवृतः

स्कन्धः खेऽतिमहाननादिनिघनो लोकः सदास्ते स्वयम ।

नून मध्येऽत्र सुरान यथायथमधः श्वाभ्रास्तिश्चोऽभितः

कर्मोदरिचिरुपवप्लूतानघियतः सिद्धयै मनो धावति ॥ ७६॥

जीवाघर्थचितः-जीवपूर्वगलधर्माधर्मकएरिर्लैर्व्यासः । दिवर्धमुरजाकारः-अधोन्यस्तमृदडीःद्वर्व मुखस्थापितोद्वर्वमुदसंस्थानः । इत्थं वा वेत्रासनमृदडोरुल्लीरीसदृशाकृतिः । अधश्चोद्वर्व च तिर्यक च यथायोगमिति त्रिधा । त्रिवातीवृतः-त्रयाणां वातानां धनादधि-धनवात तनुवातसंज्ञानां मरुता समाहार-स्त्रिवाती । तथा वृती वृक्ष इव त्वकत्रयेण वेष्टित । स्कन्धः- समुदायरूपः ।

ॐ तं च-

समवाओ पंचणहं समओ त्ति जिणुत्तमेहि पण्णत्तं ।

सो चेव हवदि लोओ तत्तो अमिदो अलोगो खं ॥ (पत्रस्ति. गा. ३)

खे-अलोकाकाशे न वराहदष्ट द्वे । अनादिनिघनः-सृदिसंहाररहितः- ।

ॐ तं च-

लोओ अकिटि म्मे खलू अणाइणिहणी सहावणिव्वती ।

जीवाजीवेहि फुडो सव्वागासवयतो णिच्चो ॥ (त्रिलो. सा. गा. ४)

इस तरह व्यवहारसे बाह्य होकर आत्मनिष्ठ होनेसे ही परमनिर्जरा होती है। परीषहोको जीतनेपर ही यह कुशलमुला निर्जरझिं होती है। यह निर्जरा शुभानुबन्धा भी होती है और निरनुबन्धा भी होती है अर्थात् इसके साथ यदि बन्ध होता है तो शुभका बन्ध होता है कया बन्ध बिलकुल ही नहीं होता। इस तरह निर्जराके गुण-दोषोंकी भावना करना निर्जरानुप्रेक्षा है। इसकी भावनासे चित्त निर्जराके लिए तत्पर होता है। ॥ ७५ ॥

अब लोक और अलोकका स्वरूप बतलाकर लोकभावना भानेवालेके स्वात्माकी उपलब्धिकी योग्यता आती है, ऐसा उपदेश करते हैं-

यह लोक जीव, पुदगल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्योसे व्याप्त है। आधे मृदंगको नीचे रखकर उसके मुखपर पूरा मृखपर पूरा मृदंग खडा करके रखनेसे जैसा आकार बनता है वैसा ही उसका आकार है धनोदधि, धनवात और तनुवात नामक तीन वातवतलयों से वेष्टित है। द्रव्योंका समुदाय रूप है, अत्यन्त महान है, अनादिनिधन है तथा स्वयं अलोकाकाशके मध्यमें सदासे स्थित है। इसके मध्यमे मनुष्य, यथायोग्य स्थानोंमें देव, नीचे नारकी और सर्वत्र तिर्यच निवास करते हैं। कयर्मरूपी अग्निमें सदा जनलेवाले इन जीवोंका ध्यान करनेसे साधुका मन सिद्धिके लिए दौडता है ॥ ७६ ॥

विशेषार्थ-अनन्त आकाशे मध्यमें लोक स्थित है। जिसमें जीवादि पदार्थ देखे जायें उसे लोक कहते हैं। वैसे आकाश द्रव्य सर्वव्यापी एक अखण्ड द्रव्य है। किन्तु उसके दो विभाग हो गये हैं। जितने आकाशमें जीव आदि पाँचो द्रव्य पाये जाते हैं उसे लोक कहते हैं और लोकके बाहरके अनन्त आकाशको अलोक कहते हैं। कहा है-जिनेन्द्रदेवने जीव, पुदगल, धर्म, अधर्म और आकाशके समवायको समय कहा है। वही लोक है। उससे

नृन मध्ये-मनुष्यान मानृषोत्तरापर्वतपर्यन्ते जम्बूद्वीप लवणोद-घातकीखण्डद्वीप-कालोदसमुद्र-पुष्करवरद्वीपार्घरूप मध्यदेशे। यथायर्थ-यथात्मीयस्थानम। तत्र भवनवासिनां मुखे योजनशतानि विशति त्स्त्र त्वा शरभौगे पडकबहुलमागे त्वसुराणा राक्षसांना व स्थानानि। व्यत्राणामधस्ताच्चित्रावज्ज्वनीसंधेरारम्योपरिन्मेरु यावत्तिर्यक्र व समन्तादास्पदानि। ज्यातिष्काणामती भूसेर्नवत्याधिकसप्तशतयोजनान्याकाशे गत्वोद्वै दशोत्तरशतयोजनावकाशे नभादेशै तिर्यशू व धनोद्रधिवातलयं यावदू विमानधिष्ठानानि विमानानि। वैमानिकानां पुनरुद्वर्मुज्जिन्द्रकादारम्या सर्वाणीसिद्धि यावद विमानपदानीति यथागतं विस्तरतश्चिन्त्यम। अघः- अब्बहुलभागात् प्रभूति। अभितः- वसनाडयां तथा बहिश्च। अधियतः- ध्यायतः। सिद्धथै बहिः सिद्धिक्षेत्राय लोकाग्राय, अध्यात्म स्वात्मोपलब्ध्ये ॥ ७६॥

बाहरका अनन्त आकाश अलोक है। और भी कहा है-यह लोक अकृत्रिम है, इसे किसीने बनाया नहीं है। स्वभावसे ही बना है। बतएव बनादिनिधन है, न उसका आदि है और न अन्त है। सदासे है और सदा रहेगा। इसमें जीव और अजीव द्रव्य भरे हुए हैं। यह समस्त आकाशका ही एक भाग है। इसका

आकार आधे मृदंगकेमुखपर पूरा मुददंग खडा करनेसे जैसा आकार बनता है वैसा ही है। या वेत्रासनके ऊपर झॉझ और झॉझपर मृदंग खडा करनेसे जैसा आकार बनता है वैसा है। वेत्रासनके आकारवाले नीचेके भागको अधालोक कहते हैं उसमें नारकी जीवोंका निवास है। झॉझके आकारवाला मध्यलोक है। इसमें मनुष्यों का निवास है। पूर्ण मृदंगके आकर ऊर्ध्व लोक है इसमें देवोंका निवास है। या लोक नीचसे ऊपर तक चौदह राजु ऊँचा है। उत्तर-दक्षिण में सर्वत्र इसकी मोटाई सात राजू है। पूरब पश्चिममें विस्तार लोकके नीचे सात राजू है। फिर दोनों ओरसे घट ते हुए सात राजूकी ऊँचाई पर एक राजू विस्तार है। फिर दोनों ओरसे ढट ते हुए १० डू सढे इस राजूकी ऊँचाई पर पाँच राजू विस्तार हैं। फिर दोनों ओरसे घट ते हुए १४ राजूकी ऊँचाई पर विस्तार एक राजू है। इस समस्त लोकका धनफळ तीन सौ तेतालीस राजू है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है-सात राजूमें एक राजू जोडकर आधा करनेसे ४ राजू आते हैं। उसे ऊँचाई ७ राजूसे गुणा करनेपर ओलोकका क्षेत्रफळ २८ आता है। तथा मृदंगके आकार ऊर्ध्वलोकका क्षेत्रफळ इक्कीस राजू है जो इस प्रकार है-पाँच राजूमें एक राजू जोडकर आधा करनेसे तीन राजू होते हैं। उसे ऊँचाई सढे तीन राजूसे गुणा करने पर सढे दस राजू होते हैं। यह आधे मृदंगाकारका क्षेत्रफळ है। इसे दूना करनेसे इक्कीस राजू होते हैं। अट्टईसमें इक्कीस जोडनेसे उनचास होते हैं। यह सम्पूर्ण लोकका क्षेत्रफळ है। इसे लोककी मोटई सात राजूस गुणा करनेपर ४९x७=३४३ तीन सौ तेतालीस राजू घनफळ आता है। यह लोक तीन वातवलर्योंसे उसी तरह वेष्टि त है जैसे वृक्ष छालसे वेष्टि त होता है। इसीसे बातके साथ वलय शब्द लगा है। वलय गोलाकार चूडेको कहते हैं जो हाथमे पहननेपर हाथको सब ओरसे घेर लेता है। इसी तसह तीन प्रकारकी वायू लोकको सब ओरस घेरे हुए हैं। उन्ही केआधार पर यह स्थिर है। इसे न शेषनाग उठाये हुए है और न यह सुअरकी दह पर या गायके सींग पर टि का हुआ है। मध्यलोकके अन्तर्गत जम्बुद्वीप, लवण समुद्र, घातकीखण्ड

तिमुपर्यधश्चैकैकसहस्त्र त्य -भ. कु. च. ।

भागे नागाविनवाना कुमाराणां प-म. कु. च. ।

ह्रानानि। वैमा-भ. कु. च. ।

अथ सम्यगलोकस्थितीभावनयाऽधिगतसंवगंस्य मुक्त्वर्यसामर्थ्यसमुद्धवं भावयति-

लोकस्थिती मनसि भावयती यथावद

दुःखार्तदर्शनविजुम्भितजन्तभीतेः ।

सद्धर्मतत्फलविलोकनरद्विमस्य

साधेः समुल्लसति कापि शिवाय शक्ति रः ॥ ७७ ॥

स्थितिः-इत्थभावनियमः ! सद्धर्मः -शुद्धात्मानुभुतिः। तत्फळ-परमानन्दः ॥ ७७ ॥

अथ बोधिदुर्लभत्वं प्रणिधत्-

जातोऽत्रैकेन दीर्घं घनतमसि पर स्वातभिज्ञोऽभिजानन

जातु द्वान्यां कदाचिस्त्रिभिरहमसकृज्जातूचित्त्वैश्चतुर्भिः ।

द्वीप कालोद समुद्र तथा अर्घ पूष्कर द्वीपमें मानुपोत्तर पर्यन्त मनुष्योंका निवास है । जिस पृथिवीपर हम निवास करते हैं उस रत्नप्रभा पृथिवीके तीन भाग हैं । प्रथम खर भागमें नागकुमार आदि नौ प्रकारके भवनवासियोंका निवास है और पंक भागमें असूर कुमारोंका राक्षसोंका आवास है । शेष व्यन्तर नीचे चित्रा और वज्जा पृथिवीकी सग्धिसे लेकर ऊपर सुमेरु पर्यन्त निवास करते हैं । इस भूमिसे ७९० योजन आकाशमें जानेपर ऊपर एक सौ दस योजन आकाशप्रदेश तथा तियेक धनादघिवातवलय पर्यन्त ज्योतिषी देवोंके विमान हैं । और वैमानिक देवोंके विमान ऊपर श्रजू नामक इन्द्रक विमानसे लेकर सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त हैं । नीचे प्रथम पृथिवीके अब्बहुल भागसे लेकर सातवी पृथिवी पर्यन्त नारकियोंका निवास है । ये सभी जीव कर्मकी आगमें सदा जला करते हैं । इनका चिन्तन करनेसे साधुका मन संसारसे उद्विग्न होकर बाह्यमें लोकके अग्रभागमें स्थित मुक्ति स्थानको और अभ्यन्तरमें स्वात्मोपलब्धि रूप सिद्धिको प्राप्त करनेकेलिए लालयित हो उठता है ॥ ७६ ॥

आगे कहते हैं की जिस साधुको लोक भावनाके चिन्तनसे संवेग भावकी प्राप्ति होती है उसमें मुक्ति त्को प्राप्त करनेकी शक्ति त प्रकट होती है-

जो साधु अपने मनमें सम्यक रूपके लोककी स्थितिका बार-बार चिन्तन करता है, और दुःखोसे पीडित लोगोंको देखनेसे जिसे संसारसे भय हो जाता है तथा जो शुद्धात्मानुभूति रूप समीचीन धर्म और उसका फल परमार्नन्द देखकर उसमें अनुत्त त होता है । उस साधुमें मोक्षकी प्राप्तिके लिए कोई अलौकिक शक्ति त प्रकट होती है । ॥ ७७ ॥

इस प्रकार लोकानप्रेक्षाका कथन समाप्त होता है ।

अब बोधिदुर्लभ भावनाका कथन करते हैं -

आत्मज्ञानसे विमुख हुआ मैं इस जगतमें बार-बार दीर्घ काल तक केवल एक स्पर्शन इन्द्रियकेद्वारा स्पर्श प्रधान परद्रव्यको जानता हुआ मिथ्यात्वरूप गहन अन्धकारसे व्याप्त नित्यनिगोद आदि मे उत्पन्न हुआ । कभी दो इन्द्रियोंकि द्वारा काल कतक तन्मा । कभी तीन इन्द्रियों केद्वारा स्पर्श, रस और गन्ध प्रधान परद्रव्यको जानता हुआ दीर्घ काल तक बार-बार चीटी आदिमें जन्मा । कभी चार इन्द्रियोंकेद्वारा स्पर्श रस गन्ध और रूपवाले परद्रव्योंको जानता हुआ भौरा आदिमें बार-बार दीर्घकाल तक जन्मा । कभी पाँच इन्द्रियोंकेद्वारा स्पर्श-रस

एकेन, खैरिति वचनपिरणामेन, खेन-इन्द्रियेण स्पर्शनेन इत्यर्थः- । एवमुक्त्वापि नैयायिकसमयः- । दीर्घ-चिरकालम् । धनतमसि-निश्चिदमोहे निगोदाद्रिस्थाने जातोऽहामिति संबन्धः । परं-परद्रव्यं स्पर्शप्रधानम् । स्वानभिज्ञो आत्मज्ञानापराडमुखः। अभिजानन्-आभिमुख्येन परिच्छिन्दत् ।

द्वाभ्यां-स्पर्शनरसनाभ्याम् । पर-स्पर्शरसप्रधानम् । स्वानभिज्ञौऽभिजानन् कृम्यादिस्थाने दीर्घ जातोऽस्ती
संबन्ध एवं यथास्वमुक् त्त्रापि । त्रिभिः स्पर्शनरसनधाणैः । चतुर्भिः :- स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुर्भिः । अपि
मनसा- मनःपष्ठैः पत्रभिरिन्द्रियैरित्यर्थः । अनेहसि-काले । ईदृक् सुजात्यादिसंपन्नम् । लब्धं (आपं)-
लब्धवानहम् । इह-बोधी ॥ ७८॥

अथ दुर्लभबोधिः (-घेः) प्रमादात् क्षणमपि

प्रच्युतायास्तत्क्षणद्विकर्मर्यविपविश्रम्भे खसंक् त्शेवेदनावशस्य पुनर्दुर्लभतरत्वं चिन्तयति-

दुष्प्रापं प्राप्य रत्नत्रयमखिलजगत्सारमूत्सारयेयं,

नोचेत् प्रज्ञापरधं क्षणमति तवरं विप्रलब्धीऽक्षधुर्ते : ।

तत्किञ्चित्कर्म कुर्या यवनुभैवीवत्केखसंक् त्खसंबिदू

बोधेबिन्देय वार्तामपि न पुनरनकुप्राण नास्याः कुत्स्त्याः ॥ ७९ ॥

गन्ध रूप और शब्द प्रधान परद्रव्यको जानता हुआ दीर्घकाल तक बार-बार असंज्ञी पंचेन्द्रियोंमें जन्मा ।
कभी मनके साथ पाँच इन्द्रियोंके द्वैरिं स्पर्श, रस, गन्ध रूप, शब्द तथा श्रुतके विषयभूत परद्रव्यको जानता
हुआ बार-बार दीर्घकाल संज्ञी पंचेन्द्रियोंमें जन्मा । किन्तु इस प्रकारके जाति-कुल आदिसे सम्पन्न
मनुष्यसबको पाकरमैंने कभी भी रत्नत्रयकी प्राप्तिरूप बोधिको नहीं पाया । इसलिए जैसे कोई समुद्रके
मध्यमें अत्यन्त दुर्लभ रत्नको पाकर उसके लिए अत्यन्त प्रयत्नशील होता है वैसे ही संसासमें अत्यन्त
दुर्लभ बोधिको पाकर मैं उसीके लिए प्रयत्नशील होता हूँ ॥ ७८ ॥

विशेषार्थ-सारांश यह है कि संसार-भ्रमणका एकमात्र कारण अपने स्वरूपको न जानना है ।
आत्मज्ञान ही सम्यग् बोधि है । परभव पाकर भी उसका प्राप्त होना दुर्लभ है अतः उसीके लिए
प्रयत्नशील होनेकी आवश्यकता है । वह प्राप्त होनेसे रत्नत्रयकी प्राप्ति कसु सनिश्चित है । किन्तु
उसकेअभावमें रत्नत्रय हो नहीं सकता ॥ ७८॥

यदि प्राप्त दुर्लभ बोधि प्रमादवश एक क्षणके लिए भी छुट जाये तो उसी क्षणमें बँधे हुए कर्मोंका
उदय आनेपर कष्टकी वेदनासे पीड़ित मेरे लिए बोधिकी प्राप्ति दुर्लभसे दुर्लभतर हो जाती है, ऐसा
विचार करते हैं-

सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चरित्र रूप रत्नत्रय समस्त लोकमें उत्तम है । यह बड़े कष्ट से
प्राप्त होता है । इसे प्राप्त करके एक क्षणके लिए भी यदि मैं अपने प्रसादपूर्ण आचरणको दूर न करूँ तो
शीर्घ ही इन्द्रियरूपी धूर्तोसे ठगा जाकर मैं कुछ एकसा दारुण कर्म करूँगा जिस कर्मके उदयसे होनेवाले
व त्शे और संक् त्शे को भोगनेवाले मेरे लिए बोधिकी बात भी दुर्लभ है फिर उसकी पुनः प्राप्तिकी तो
बात हीक या हैं ? ॥ ७९ ॥

विशेषार्थ-रत्नत्रयकी प्राप्ति बड़े ही सौभाग्यसे होती है । अतः उसे पाकर सतत सावधान रहनेकी
जरूरत है । एक क्षणका भी प्रसाद उसे हमसे दूर कर सकता है । और प्रसादकी सम्भावना इसलिए है
कि मनुष्य पुराने सस्कारोंसे भ्रममें पड़ सकता है । कहा है -

१. -समन्वयश्चिन्त्यः भ. कु. च. ।

उत्सारयेयेम्-दूरीकुर्यामहम् । प्रज्ञापराधं-प्रभादाचरणम् । ॐ तं च-

ज्ञातमप्यामनस्तत्त्वं विक्लिं तं भावयन्नपि ।

पूर्वविभ्रमसंस्काराद् भ्रान्ति भूयोऽपि गच्छति ॥ (समाधि तन्त्र ४५)

व त्शेषाः- अविघास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः । संक त्शेषाः-सुखदुःखपभोगविकल्पाः । विन्देय- लभेय
अहम् । अनुप्राणना- पुनरुज्जीवनी । कुतस्त्या-कुतो भवा न कुतश्चित् प्राण्यत इत्यर्थः ॥ ७९ ॥

अथ केवलिप्रज्ञसवैलोक्यैकमङ्गललोत्तमस्य धर्मस्याविर्भावमाशंसति-

ठदोषोच्छेदप्रथितमहिमा हान्ति धर्मान्तराणां

स व्याख्यातः परमविशदख्यातिभि ख्यातु धर्मः ॥ ८० ॥

आत्मतत्त्वको जानकर भी और शरीरसे भिन्न उसका पुनःपुनः चिन्तन करके भी पहले मिथ्या संस्कारोसे पुनः भ्रमसें पड़ भ्रममें पड़ जाता है । और यह क्षण-भरका प्रसाद इन्द्रियोंके चक्र में डालकर मनुष्यकयो मार्गभ्रष्ट कर देता है । फलतः उस क्षणमें बँधे हुए कर्म जब उदयमें आते हैं तो मनुष्यक तेश और संक त्शेषासे पीडित हो उठता है । राग-द्वेषरूप भावोंकोक तेश कहते हैं और सुख-दुःखको भोगनेके बिकल्पोंको संक त्शेषा कहते हैं । फिर तो मनुष्यके लिए बोधिकी प्राप्तिकी बात तो दूर उसका नाम भी सुनना नसीब नहीं होता । इस बोधिकी दुर्लभताका चित्रण करते हुए तत्त्वार्थवार्तिक ९/७/९ में कहा है- एक निगोदिया जीवके शरीरमे सिद्ध राशिसे अनन्त गुण जीवोंका निवास है । इस तरह समस्त लोक स्थावरकायिक जीवोंसे भरा हुआ है । अतः त्रसपना, पंचेन्द्रियपना, मनुष्यपर्याय उत्तम देश, उत्तम कुल, इन्द्रिय सौष्टव, आरोग्य और समीचीनधर्म ये उत्तरासेत्तर बढे कष्ट से मिलते हैं । इस तरह बडे कष्ट से मिलनेवाले धर्मकी पाकर भी विषयोंसे विरक्ति व होना दुर्लभ है । विषयोंसे रिक्ति व होनेपर तपकी भावना, धर्मकी प्रभावना, समाधिपूर्वक मरण दुर्लक्ष है । इस सबके होनेपर ही बोधिकी प्राप्ति सफल है, ऐसा चिन्तन करना बोधि दुर्लभ अनुप्रेक्षा है ॥ ७९ ॥

आगे केवलीके द्वारा कहे गये, तीनो लोकोमें अद्वितीय मंगलरूप तथा सब लोकमें उत्तम धर्मके प्रकट होनेकी आशा करते हैं-

अपनी किरणोंसे सूर्यके समान उत्तम क्षमा आदिके साथ भव्य जीवोकी अन्तर्दृष्टि में प्रकाशमान होता हुआ जो गहरे अन्धकारमें चमकनेवाले जुगुलुओंकी तरह गहन मिथ्यात्वमें चमकनेवाले अन्य धर्मोंके प्रभावको नष्ट करता है, रागादि दोषोंकी विनाश करनेके कारण जिसकी महिमा प्रसिद्ध है तथा जो समस्त विशेषोंका स्पष्ट प्रकाशन करनेवाले ज्ञानसे युक्त व सर्वज्ञ देवके द्वारा व्यवहार और निश्चयसे कहा गया है वह वस्तुस्वरूप धर्म या चौदह मार्गणाथानोंमें चौदह गुणस्थानोंका विचाररूप धर्म प्रकट होवे ॥ ८० ॥

विशेषार्थ-सच्चा धर्म वही है जो राग-द्वेषसे सहित पूर्णज्ञानी सर्वज्ञके द्वारा कहा गया है ।
क्योंकि मनुष्य अज्ञानसे या राग-द्वेषसे असत्य बोलता है । जिसमें ये दोष नहीं हैं ।

जानन्नप्पा-स. तं. ।
वना म. कु. च. ।

लोकालोकेभव्यजनान्तर्दृष्टीचक्रालगिरी च । तमः- मिथ्यरात्वमन्धकारश्च । धर्मान्तराणां-
वेदाधुक् ऋर्माणाम् । स्वाख्यातः-सम्यगुक् ऋ । व्यवहारनिश्चयाम्यां व्यवस्थापित इत्यर्थः । परमविशद-
ख्यातिभिः- उत्कृष्ट शेषविशेषणस्फुट प्रकानिठज्ञानैः सर्वज्ञैरित्यर्थः । ख्यातु-प्रकट भवतु । धर्मः-
चतुर्दशगुणास्थानानां गत्यादिषु चतुर्दर्शमार्गणास्थानेषु स्वतत्त्वविचारणालक्षणी वस्तुयाथातम्यारूपी वा ॥
८० ॥

अथाहिंसैकलक्षणस्य धर्मस्याक्षयसुखफलत्वं सुदुर्लभत्वं समसग्रशब्दब्रह्मप्राणत्वं च
प्रकाशयन्नाह-

सुखमचलमहिंसालक्षणादेव धर्माद्
भवति विधिरशेषेऽयस्य शेषोऽनुकल्पः- ।
इह भवगहनेऽसावेच दूर दुरापः
प्रवचनवचनानां जीवितं चायमेव ॥ ८१ ॥

विधिः-सत्यवचनादिः । अनुकल्पः-अनुगर्त द्रव्यभावान्यामहिंसकत्वं कल्पयति समर्थयति ।
तदनुयायीत्यर्थः ॥ ८१ ॥
